सर्व मंगल सर्वदा

o प्रवचनकार

आचार्यश्री नानेश

o सम्पादक

शान्तिचन्द्र मेहता

o प्रकाशक

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर-३३४००१ (राजस्थान)

o मूल्य : १५.००

o प्रथम संस्करण : १९८८

o मुद्रक

जैन आर्ट प्रेस
समता भवन, बीकानेर-३३४००१

सम्पादकीय

मंगल सबका हो, मगल अपना हो—यही तो सबकी हृत्कामना रहती है और महामत्र णवकार मत्र मे भी तो इसी भावना की अभिव्यक्ति हुई है कि—"मगलाण च सव्वेसिं, पढम हवई मगल।" सर्व मगल सर्वदा—यह गुणीजनो की शाश्वत अभिलाषा प्रकट हुई है, प्रकट होती है और प्रकट होती रहेगी। यदि आचार्यश्री नानेश 'सर्व मगल सर्वदा' का स्वरोच्चारण करते हैं तो उसे महानता का शाश्वत उद्घोष ही कहा जायगा।

प्रस्तुत प्रवचन—सकलन का यही शीर्षक है—सर्व मगल सर्वदा—सबका सदा मगल हो। परन्तु यह मगल कब ? जब अधेरे हृदय मे ज्ञान से प्रकाश हो, धर्म का चिन्तन चले और जीवन गतिशील बना रहे। इस ससार मे शरीरो की प्रक्रिया के बीच पडित कौन होगा ? वही जो शान्त क्राति का स्रष्टा बनता है गरिमामय गणेशाचार्य की तरह, क्योकि आत्मा का गतव्य होता है परमात्मा का पद जिससे प्रस्फुटित होता है मगलमय सुख विपाक। समस्याओ का जाल कैसा भी क्यो न हो और वह चाहे जन्म—जन्मातर तक चले—जो मगलमूर्ति बनकर स्वान्वेषण करेगा, वह निश्चय ही सर्वहित की ओर बढेगा। किन्तु यह वृत्ति सशोध तथा पर्याप्ति और प्राण की पुष्टि से ही सम्भव हो सकेगा—बस लक्ष्य अन्तर्यात्रा का रहे, अन्दर की आखे खुली हो और स्तुति की महिमा के माध्यम से स्वरूप स्मृति निरन्तर होती रहे। फिर यह स्मृति ही आतरिक आहार विधि बन जाती है तथा आत्मा का पर्व अपने सर्वोच्च विकास से सुशोभित बन जाता है। यही है सर्व मगल सर्वदा का पाथेय—जो नाना गुरु सबको बताते है—सदा बताते हैं। देखने की उत्सुकता यही रहती है कि इसका कितनी सघन निष्ठा से अनुसरण किया जाता है।

जलगाव चातुर्मास मे आचार्यश्री नानेश की गुजित वाणी का यह सकलन पहला प्रसाद है—अभी प्रवचनो के तीन भाग और

प्रकाशित होने हैं जिनका सम्पादन मैंने इसी भावना के साथ किया है कि प्रवचनो की मौलिकता का अधिकतम निर्वाह करू ताकि इनकी प्राभाविकता यथावत् बनी रहे । दोषो का दायित्व सम्पादक पर रखें, प्राभाविकता के लिये गुरुदेव के प्रति नत–विनत रहें और सबके जीवन को मंगलमय बनाने का सत्प्रयास करें । बस यही प्रार्थना……।

—शांतिचन्द्र मेहता

महत्ता सदन,
ए–४, कुभा नगर
चित्तौडगढ (राजस्थान)

प्रकाशकीय

दुग्ध के साथ धवलता कब से चली आ रही है ? अग्नि के साथ उष्णता का सम्बन्ध कब से है ? इन विषयो की प्रादुर्भूति के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जब से दुग्ध है, तभी से उसकी धवलता है। जब से अग्नि है तभी से उसके साथ उष्णता का सबन्ध बना हुआ है। ठीक इसी प्रकार जब से भू, तोय, अनल, अनिल आदि प्राणी समूह एवं जड तत्त्व चले आ रहे हैं, तभी से धर्म एवं सस्कृति चली आ रही है। साधुमार्ग का इतिहास भी उतनी ही प्राचीनता को लिये हुए है।

साधुमार्ग की इस पवित्र पावन-धारा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए बडे-बडे आचार्यों ने अपना-अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। भगवान् महावीर के बाद अनेक बार आगमिक-धरातल पर क्रांति का प्रसग आया है। इस क्राति के द्वारा श्रमण सस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयास किया जाता रहा। ऐसी क्राति की धारा में क्रियोद्धारक महान् आचार्य श्री हुक्मीचन्दजी म सा का नाम विशेष रूप से उभर कर सामने आता है। तत्कालीन युग में जहा शिथिलाचार व्यापक तौर पर फैलता जा रहा था, शुद्ध साधुत्व की स्थिति विरल ही परिलक्षित होती थी। बडे-बडे साधु भी मठो की तरह उपाश्रयो में अपना स्थान जमाए हुए थे। चेलो के पीछे साधुता बिखरती चली जा रही थी। ऐसे युग मे आचार्य श्री हुक्मीचन्दजी म. सा. ने उपदेशो से नही अपितु अपने विशुद्ध एव उत्कृष्ट सयममय जीवन से जनमानस को प्रभावित किया था। तप के साथ क्षमा एवं उत्कृष्ट सयम के साथ उत्कृष्ट सम्यक्ज्ञान का सयोग दुर्लभ ही देखने को मिलता है। किन्तु आचार्य प्रवर मे ऐसे दुर्लभ सयोग सहज सुलभ थे। आपके जीवन का ही प्रभाव था कि हजारो स्त्री-पुरुष आपके चरण सान्निध्य को पाने के लिए लालायित रहने लगे। तब

"तिन्नाए तारयाए" के आदर्श आचार्य प्रवर ने योग्य मुमुक्षुओ को दीक्षित किया, और जो देशव्रती बनना चाहते थे उन्हें, देशव्रती बनाया। इस प्रकार सहज रूप से ही चतुर्विध सघ का प्रवर्तन हो गया।

समुद्र में जिस प्रकार दूर तक गंगा का पाट दिखलाई देता है वैसे ही जैन-धर्म के समुद्र में आचार्य प्रवर की यह धारा एकदम अलग-थलग सी परिलक्षित होने लगी। यहा से फिर साधुमार्ग में एक क्रान्ति घटित हुई। जिस क्रान्ति की धारा को पश्चातवर्ती आचार्यों ने निरन्तर आगे बढ़ाया। आज हमें परम प्रसन्नता है कि समता विभूति विद्वद् शिरोमणि, जिन शासन प्रद्योतक, धर्मपाल प्रतिबोधक आचार्यश्री नानेश के सान्निध्य में साधुमार्ग की वह धारा विकसित रूप में उभर कर आ रही है। संघ के एकमात्र अनुशास्ता आचार्य श्री नानेश के सान्निध्य में हुई एक साथ २५ दीक्षाओ ने सैकडो वर्षों के अतीत के इतिहास को प्रत्यक्ष कर दिखाया है। ऐसी एक नही अनेक क्रान्तिया आचार्य-प्रवर के सान्निध्य में घटित हो रही है। सयम पालन के साथ हर साधु-साध्वी वर्ग ने आचार्य-प्रवर के सान्निध्य को पाकर सम्यक्ज्ञान की दिशा में भी आश्चर्यजनक विकास किया है।

सर्व मंगल सर्वदा नामक प्रस्तुत पुस्तक मे आचार्यश्री नानेश के जलगाव चातुर्मास के २१ प्रवचनो का सकलन किया गया है।

हमारा सघ सत्साहित्य एवं जीवन विकासोन्मुखी कृतियो के प्रकाशन के लिए कृत संकल्प है।

इस सुअवसर पर हम यह भी स्पष्ट कर दे कि इन प्रवचनों के प्रकाशन मुद्रण, या किसी अन्य प्रबन्ध मे परम पूज्य आचार्य श्री जी म सा. का कोई सम्बन्ध नही है। अत इस सकलन में कोई भी शब्द या वाक्य सक्षेप मे आ गया हो अथवा मूल भाव से कही अन्तर दिखाई दे तो इसके लिए हम ही उत्तरदायी हैं। गुरुदेव का कार्य तो प्रवचन देना मात्र है। उनके प्रकाशन, मुद्रण एवं प्रसार की समस्त व्यवस्था हमारी है, जिसकी भूलो को स्वीकार करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

इन प्रवचनो का सुन्दर सम्पादन श्री शान्तिचन्द्रजी मेहता, चित्तौड़ ने किया है इसके लिए हम उनका हृदय से आभार मानते हैं।

चुन्नीलाल मेहता
अध्यक्ष

चम्पालाल डागा
केशरीचन्द सेठिया
मदनलाल कटारिया
सहमन्त्री

धनराज बेताला
मन्त्री

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

अनुक्रमणिका

सर्व मंगल सर्वदा

आज का प्रसंग जिस रूप मे उपस्थित हुआ है, उसे किसी व्यक्ति विशेष के लिये समझना मैं योग्य नही मानता हू । आप समझ रहे होगे कि यह महाराज का स्वागत हो रहा है, किन्तु मैं समझता हू कि इस मंगल गृह (जलगांव मे चातुर्मास स्थल का नाम नवजीवन मंगल कार्यालय) मे सर्व सन्त–सतियों के आगमन के निमित्त से चतुर्विध सघ के स्वागत का ही मंगल प्रसंग उपस्थित हुआ है ।

चतुर्विध सघ में सबका समावेश हो जाता है—समस्त साधु एवं साध्वियां तथा श्रावक एवं श्राविकाएं । अत चतुर्विध संघ के मगल का अभिप्राय होगा सर्व मंगल और जो सर्व मगल होता है, वह सर्वदा भी रहता है । इस दृष्टि से 'सर्व मगल सर्वदा' यह मगल कामना सभी को अभीष्ट होनी चाहिये ।

मंगल का अभिप्राय क्या ?

यों सामान्य रूप से मंगल का अभिप्राय समझा जाता है कि भला हो, शुभ हो, कल्याणकारी हो । विभिन्न अवसरो पर जो मगल-कामना की जाती है, उसका अर्थ भी इसी रूप मे माना जाता है कि जिसके प्रति जिस आयोजन को दृष्टि मे रखकर मगल की भावना प्रकट की गई है उसका उस रूप मे भला हो, शुभ हो और कल्याण हो । भाव रूप से मगल कामना वास्तव मे शुभ होती है किन्तु वस्तु रूप से उसमे दृष्टि भेद हो सकता है । सामान्य जन की दृष्टि सामान्य

हो सकती है जो भौतिकता तक ही अवरुद्ध हो और गहराई तक न उतर पाती हो । परन्तु एक विवेकवान पुरुष उस मगल कामना के पीछे आध्यात्मिक विचारणा रखता है । जिसके प्रति मंगल कामना प्रकट की गई है, वह उसका आध्यात्मिक दृष्टि से शुभ एवं कल्याण चाहेगा । आध्यात्मिकता का अर्थ होता है आत्मा की ओर उन्मुख होना । अत आत्मा की ओर उन्मुख होते हुए किसी का शुभ और कल्याण चाहना होगा तो वह उसकी आत्मा की पवित्रता वृद्धि के रूप मे ही हो सकेगा ।

आत्मा की पवित्रता ही वस्तुत मगल का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप होता है । आत्मा की पवित्रता—वृद्धि होती है उसकी पाप मुक्ति के साथ । जितना पाप इस आत्म-स्वरूप के साथ बन्धा हुआ होता है, वही उसकी अपवित्रता होती है—मैल होता है, अन्धकार होता है । अत ज्यो-२ बधे हुए पाप सद्विचारणा और सत्कार्यों से गाले जाते हैं—नष्ट किये जाते है, त्यो-त्यो आत्म-स्वरूप की पवित्रता बढती जाती है । उसका मैल हटता है और उज्ज्वलता प्रकट होती है—अन्धकार मिटता है और प्रकाश फैलता है । इस दृष्टि से ही मगल का सच्चा स्वरूप समझा जाना चाहिये, जिसकी परिभाषा इस प्रकार है—

मां पाप गालयतीति मगलम् !

अर्थात्—जो क्रिया—प्रक्रिया मेरे पापो को गाल डाले—नष्ट कर दे, वही मगल है । और जहा मंगल ही मंगल हो—वह मगल गृह कहा जाए । यह मगल गृह का व्युत्पत्ति-परक अर्थ है । यह तो एक भवन का नाम है किन्तु मगल—बोध सदा चैतन्यता का प्रतीक होता है क्योकि चाहे स्व के प्रति हो अथवा अन्य के प्रति—मगल—कामना सदा चेतन प्राणी ही कर सकता है । जब भीतर के भावो मे 'मगल' प्रवेश करता है और गूढता पकडता है तभी वह कामना के रूप मे बाहर प्रकट होता है ।

यह मगल गृह कार्यालय है । क्यो यही है न ? यह ऊपरी दृष्टि है । किसी स्थान विशेष में विशेष कार्य होने के कारण ऐसा नाम दे दिया जाता है । मगल का घर याने कि पापो को गालने का

स्थान-वह स्थान जहा पर पापो को नष्ट करने की भावना से विशुद्ध क्रियाओ का आराधन किया जाय। यह जो आन्तरिक स्वरूप है, वही मगल है और ऐसे भाव रूप मगल का अस्तित्व चैतन्य देव की आन्तरिकता में होता है।

मंगल के प्रतीक कौन ?

जिन पवित्र आत्माओ ने सम्पूर्ण पापक्षय कर लिया है अथवा जो पाप क्षय के मार्ग पर अग्रसर हैं, वे तथा उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धात एव विचार ही मंगल के प्रतीक हो सकते हैं। जो पापों को गाल डाले अथवा गालने के शुभ कार्य मे प्रयास रत हो वही तो पापो को गाल डालने का सच्चा एव व्यावहारिक मार्ग दिखा सकता है, अत. शास्त्रकारो ने चार प्रतीक मगल रूप माने है तथा उन्हे ही लोक मे उत्तम तथा शरण-रूप बताया है।

मगल के प्रतीक हैं—(१) अरिहन्त जो चार घाती कर्म रूप शत्रुओ का नाश कर देते हैं। सिद्धि गति के योग्य बन जाते है, अपने केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन से त्रिकाल तथा लोक-त्रय को जानने व देखने वाले बन जाते है और जो हितोपदेशक एव सर्वज्ञ भगवान् हो जाते हैं। अरिहन्त भगवान् के आठ महाप्रातिहार्य और चार मूलातिशय रूप बारह गुण होते है। अरिहत मगल रूप होते है और लोकोत्तम होते हैं क्योकि अघाती कर्मो की शुभ प्रकृतियो के उदय मे रहने से औदयिक उत्तम होता है एव घाती कर्मों के क्षय हो जाने से क्षायिक भाव सर्वोत्तम रहता है। औपशयिक एव क्षायोपशिक भाव उनमे रहते ही नही है।

(२) फिर मगल के प्रतीक है सिद्ध। शुक्ल ध्यान द्वारा आठो कार्यो का नाश कर देने वाले अर्थात् सम्पूर्ण पापो को गला डालने वाले लोकाग्रस्थित सिद्ध शिला पर विराजमान कृत-कृत्य एव मुक्तात्मा सिद्ध कहे जाते हैं। आठ कर्म का नाश होने से इनमे आठ गुण प्रकट होते हैं। सिद्ध भगवान् क्षायिक भाव की अपेक्षा से लोकोत्तम होते है।

(३) मगल के तीसरे प्रतीक कहे गये हैं—साधु। साधु का सच्चा स्वरूप बताया गया है कि वे सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और

सम्यक् चरित्र द्वारा मोक्ष मार्ग की आराधना करने वाले, प्राणी मात्र पर समभाव रखने वाले, छः काया के जीवों की रक्षा करने वाले तथा आठ प्रवचन माता के उपासक होते हैं। पंच महाव्रत धारी मुनि का स्वरूप ही उनका सच्चा स्वरूप होता है क्योकि इसी स्वरूप में आचार्य एवं उपाध्याय का भी समावेश होता है। साधु महात्मा ज्ञान, दर्शन एव चारित्र रूप भावो की उत्कृष्टता की अपेक्षा से लोकोत्तम कहलाते हैं।

(४) मगल का चौथा प्रतीक माना गया है—केवली प्ररूपित धर्म अर्थात् जिनवाणी। इसकी प्ररूपणा सम्पूर्ण ज्ञान सम्पन्न केवली भगवान् श्रुत चारित्र के रूप मे करते हैं जो सबके लिये मगल-मार्ग होता है।

ये चारो प्रतीक समस्त प्राणियों के लिये हित एवं सुख की प्राप्ति के कारण रूप होते हैं, अतएव मगल रूप हैं। मंगल रूप होने से ही इन्हे लोक मे उत्तम कहा जाता है। जो हित का भान कराता है और सुख दिलाता है, वह मगल है क्योकि हित और सुख की प्राप्ति पापो को गलाने से ही होती है। इसलिये लोक मे उत्तम उसी को माना गया है, जो मंगल हो।

इस दृष्टि से मंगल उत्तम है और जो सर्व मंगल तथा सर्वदा मंगल है, वह सर्वोत्तम है एव ऐसे सर्वोत्तम होते हैं मगल के ये चारो प्रतीक।

मंगल सर्वत्र व्यापक है-

मगल सर्वत्र व्यापक है, सर्वदा व्यापक रहता है अत वह सार्वभौमिक है तथा सर्वकालिक है। वह सर्व प्राणियो मे भी व्यापक है अत सर्वसमाहित है। यहा जो सारी जनता उपस्थित है, वह चैतन्य देव के रूप में उपस्थित है। मगल की दृष्टि से उसे किसी वेश-भूषा, कृत्रिम जाति, वर्ग अथवा किसी अन्य विभेदकारी विभाजन से आवद्ध नही करते हैं तभी यह मौलिक रूप से मंगल गृह कहा जायगा।

वर्त्तमान मे मानव अधिकाश रूप से वाह्य दृष्टि को अधिक महत्त्वपूर्ण समझ रहा है। वह उस आन्तरिक दृष्टि को कम समझ रहा

है जिसे उसे गहराई से समझनी चाहिये क्योंकि इसी समझ से वह मगल के व्यापक स्वरूप को भली भाति एवं सर्वजन हितकारी दृष्टि से महसूस कर सकता है । जहा चैतन्य देव का स्वरूप अर्थात् निजात्मा का रूप आन्तरिक रूप से अनुभूत न होकर बाह्य दृष्टि की प्रधानता रहती है, वहा पर साधना का कार्य नही चल सकता है । अत. स्थान हो या समय, सर्वत्र और सर्वदा मगलभाव को जगाने के लिये आत्म जागृति आवश्यक है । अपने निजत्त्व का भान होने पर ही आन्तरिक एव बाह्य दृष्टियो का भेद स्पष्ट होता है जिस स्पष्टता के आधार पर ही आत्महित एव प्राणीहित की मगल कामना का उदय हो सकता है ।

सर्व मगल सर्वदा एव सर्वत्र व्याप्त है मात्र आवश्यकता रहती है कि जागृत आत्मा उन मगलमय भावो को अपने भीतर उतारे तथा भीतर से बाहर को मगलमय बना ले ।

आप स्वागत के लिये आये हैं न ?

जैसा कि आप द्वारा व्यक्त किये गये विचारो से विदित होता है कि आप स्वागत के लिये आये है और निश्चय ही यह मंगल-साधने की पृष्ठभूमि है । लेकिन स्वागत का अर्थ क्या ?

स्वागत शब्द स्व+आगत से बना है । इसका अर्थ है स्व मे आ जाना । अब सोचिये कि कोई भी 'स्व' मे आगत (आया हुआ) कैसे हो सकता है ? स्व का आशय है अपनी ही आन्तरिकता-अपनी ही आत्मा अत अपनी आत्मा मे आने का अर्थ होगा कि हमारी दृष्टि बाहर से भीतर की ओर मुडे । इस दृष्टि–मोड के बाद ही हमे दिखाई देगा कि हमारी आन्तरिकता कैसी है–वहा कितना मैल है और कितनी सफाई है या कि कितना अ धकार है और कितना प्रकाश है ? जब कालिमा और स्वच्छता अथवा अ धकार और प्रकाश का तुलनात्मक लेखा जोखा लिया जायगा, तभी विदित होगा कि हमारी वास्तविक स्थिति क्या है ? तब उस स्थिति का विश्लेषण ही हमे सच्चे प्रगति पथ पर आगे बढने की प्रेरणा देगा ।

इस कारण मूल मे स्वागत याने स्व मे प्रवेश आवश्यक है– बाह्य दृष्टि का आन्तरिकता मे समा जाना अनिवार्य है । भौतिकता का समुचित मूल्याकन करते हुए यही आध्यात्मिकता का मार्ग है ।

तो अब मैं आप सब से पूछता हू कि आप स्वागत के लिये यहा आये हैं न ? तब करिये स्वागत प्रविष्ट हो जाइये अपने भीतर मे । है आपकी ऐसी तैयारी ? लेकिन मैं समझता हू कि आपकी ऐसी भावना अवश्य होगी कि अपनी दृष्टि की दिशा को परिवर्तित करें और स्वागत के महत्त्व को समझकर इस मगलगृह मे सर्व मंगल की पृष्ठभूमि का निर्माण करे । ज्यो ही मानव निज स्वरूप को समझने की जिज्ञासा करता है, वह अपने भीतर झाकता है और भीतर के शुद्धिकरण की तरफ अपने ध्यान को दौडाता है । इस शुद्धिकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत ही वह सर्वहित की सुकोमल भावनाओ से आप्लावित होता है क्योकि अपनी उत्कृष्ट भाव श्रेणी मे उसे स्वहित और सर्वहित आपस में जुडा हुआ दिखाई देता है । स्वहित एव सर्व-हित का सगम ही सर्व-मगल की आलोकमय दिशा मे अग्रसर बनाता है।

स्वागत से समष्टि की सुरक्षा -

आपने यहा सन्त सती वर्ग का स्वागत किया, लेकिन व्यक्ति विशेष के नाम से । आज व्यक्ति के साथ समष्टि को आगे लाना चाहिये । यह अनुभूति ली जानी चाहिये कि व्यक्ति की सुरक्षा मे समष्टि की सुरक्षा है तथा समष्टि की सुरक्षा मे व्यक्ति की सुरक्षा समाविष्ट है ।

जिस रूप मे अभी स्वहित एव सर्वहित का विश्लेषण किया गया है, उसी रूप मे व्यक्ति एव समष्टि का रूप भी समझिये । व्यक्ति-व्यक्ति के परस्पर जुडने से समष्टि की रचना होती है अत. व्यक्ति से अलग हटकर समष्टि का कोई अस्तित्व नही होता । फिर व्यक्तियों की सामूहिक शक्ति का एक अलग ही स्वरूप बन जाता है जिसे समष्टिगत शक्ति का नाम दिया जा सकता है । यह शक्ति व्यक्ति की शक्ति से भिन्न होकर अधिकाशत व्यक्ति की नियत्रक शक्ति वन जाती है। यो मानिये कि जहां समष्टिगत वातावरण वास्तविक उन्नति के लिये जितना अधिक अनुकूल होता है, व्यक्ति को अपनी उन्नति साधने मे उतनी ही सरलता भी रहती है । इसके विपरीत प्रतिकूल समष्टि मे व्यक्ति का सही राह पर आगे बढ पाना भी भारी कठिनाइयो से भरा होता है । किन्तु यह भी सही है कि समष्टि का अनुकूल वातावरण व्यक्तियो के अनुकूल प्रयासो से ही निर्मित हो पाता है । अत व्यक्ति एव समष्टि के

सम्बन्धो पर बडी ही गहराई से विचार करने की आवश्यकता रहती है ।

जहा तक समष्टि की सुरक्षा का सवाल है, वह व्यक्तियों की सन्निष्ठा पर आधारित रहती है । और व्यक्ति की सन्निष्ठा का सर्जन होता है स्वागत से । यह मानिये कि अपनी निष्ठा के साथ पहला परिचय ही स्वागत से होता है । भीतर नही झाके, अपनी आन्तरिकता मे प्रवेश नही करे तो अपनी निष्ठा को पहिचानेंगे ही कैसे ? निष्ठा को पहले पहिचान कर ही तो उसे सद् स्वरूप दिया जा सकेगा । यदि सन्निष्ठा सतत जागृत रहती है तो वैसे 'स्वागत' व्यक्तियो की समष्टि सुरक्षित ही नही रहती, बल्कि निरन्तर पल्लवित एवं पुष्पित भी होती रहती है ।

स्वागत अपना करें–सब का करें–

अभी आपके सामने सघपतिजी ने, नगराध्यक्षजी ने और उनके साथ कई गणमान्य व्यक्तियो ने व तरुणो ने स्वागत की दृष्टि से अपनी भावनाएं व्यक्त की । साधुमार्गी जैन संघ के वर्तमान अध्यक्ष जी, पूर्व अध्यक्षजी तथा कई भाई बहिनो ने जो बाते रखी उनके लिये मेरा एक सशोधन है ।

मेरा स्वागत करने के लिये इन सब महानुभावो ने जिन ऊचे शब्दो का प्रयोग मेरे लिये किया है, मैं चाहता हू कि उनसे अपने सब मिलकर सबका स्वागत कर ले । ऐसे स्वागत मे अपना भी स्वागत होगा और सबका भी स्वागत होगा । किन्तु उसकी विधि भलीभाति समझ लीजिये ।

यह विधि आध्यात्मिक विधि है । आप जानते हैं कि आप मे और सब मे चैतन्य देव का निवास है । उस चतन्य देव को आध्यात्मिक स्वरूप को समझकर सत् चित् एव आनन्द की गूढता मे विचरण करना चाहिये किन्तु सामान्य रूप से अनुभव किया जाता है कि इस वर्तमान समय मे वह ऐसा नही कर रहा है, बल्कि पर पदार्थों मे मोहाविष्ट होकर 'मेरी-तेरी' की पचायती मे पड गया है । अत उन सभी चैतन्य देवो के लिये इस मगल-गृह मे प्रवेश

करने हेतु 'सुस्वागतम्' है जो स्व से बाहर भटक गये हैं और मंगल से दूर हो गये है ।

स्वागत का दूसरा अर्थ यह भी है कि अपने आप आ जावें—किसी के दबाव से नही, किन्तु अपनी ही मधुर इच्छा से । तो यहा पर आत्मपद को प्राप्त करने की आध्यात्मिक साधना चलेगी अत. विकासोन्मुख चैतन्य देव स्वयमेव निश्चित रूप से यहा आ जावें । फिर वह विधि भी जानकारी मे आ जायगी जो स्वागत मे अपने और सबके भेद को समाप्त कर देगी तथा स्वहित एवं सर्वहित को परस्पर अभिन्न रीति से जोड़ देगी । जब स्वयं को देखने का प्रसंग आ जाता है, तभी यह विचार जागता है कि हमारे कर्त्तव्य क्या है एवं उन कर्त्तव्यों की पूर्ति मे हमारी कार्य-प्रणाली कैसी होनी चाहिये और ऐसा विचार जागने के साथ ही चैतन्य देव इस मंगल गृह में प्रवेश कर पाता है और मगल कार्य को सम्पन्न कर लेने का सामर्थ्य जुटा पाता है ।

मानवीय मूल्यों का ज्ञान–

जब हम स्वहित एव सर्वहित की बात सोचते हैं तो स्वत ही हमे मानवीय मूल्यो का ज्ञान हो जाता है । तब हमे सर्वहित मे स्वहित समाया हुआ लगता है और अपने साथियो ही नही, समस्त प्राणियो के प्रति अपने हृदय मे संवेदनशीलता उत्पन्न हो जाती है । ऐसी भावना प्रवल बन जाती है कि जो दूसरों का दु ख है वह अपना ही दु ख है और उसे दूर किये विना अपने हृदय को भी शान्ति नही मिलेगी हृदय के ऐसे सवेदनाशील धरातल पर ही मानवीय मूल्यो का वटवृक्ष उगता, वढ़ता और सघन बनता है ।

मानवीय मूल्यो के व्यावहारिक पक्ष के उभरने के साथ ही यह अनुभूति सुदृढ वनने लगती है कि मानव-मानव परस्पर भाई हैं । देश की दृष्टि से, आत्मीय दृष्टि से तथा भगवान् महावीर की दृष्टि से सभी परस्पर भाई-भाई हैं तथा भातृत्व की भावना मे ओतप्रोत होने चाहिये । ऐसा विश्वास होगा तभी हम अपना और सवका स्वागत करने में सक्षम हो सकेंगे ।

जलगाव का सघ अपने यहा चातुर्मास की भावना लेकर वम्बई मे उपस्थित हुआ था । विनति प्रस्तुत की थी और कहा था

कि आपके संघ की शासन–निष्ठा एव धर्म भावना प्रशस्त है। होली के पहले चातुर्मास के विषय से कुछ कहने का प्रसग नही होता है। बोरिवली चातुर्मास के बाद बाफणाजी ने जिन शब्दो मे उनका परिचय दिया—शेरेदिल, वे बालकेश्वर मे भी आए। प्रतिक्रमण के समय आये और बाद से भी आए तथा अपनी भावना की स्मृति दिलाई कि जलगाव को आपको आना ही है।

जलगांव तरलता का द्योतक–

होली चातुर्मास के पहले जलगांव का सघ घाटकोपर मे आया साथ मे पूना के संघपतिजी का पत्र भी लाया। आपके सघ को वहा सफलता मिल गई और सन्त यहा पहुच गये।

मैं सोचता हू कि जलगाव का नाम जल का गाव होने से पडा होगा। जल शब्द तरलता का द्योतक होता है और तरलता जब मानव के मन मे उत्पन्न हो जाती है तो वह मानव अपनी मानवता को ही नही पहिचान जाता है, बल्कि स्वागत करने मे सक्षम हो जाता है तथा मगल की उपासना भी सफलना पूर्वक कर सकता है। यहा के निवासियो मे ऐसी तरलता पैदा हो जाय और इस नगर मे ऐसी स्थिति आ जाय कि शीतलता के प्रसार से सबकी तपन मिट जाय-प्यास बुझ जाय तो वह मगलमय होगा।

यह जलगाव जल-सरिता के समान सर्व सुखकर और सर्व मगल बन जाय जिससे जन-जन के मन को समझने की वैज्ञानिक पद्धति का विकास हो सके और उनके मन को शाश्वत सुख व शान्ति की दिशा मे मोड़ने के प्रयास मे सफलता मिल सके। क्यो नही यह जलगाव सारे देश को ही नही, सारे विश्व को शान्ति प्रदान करने का अग्रगण्य स्थान बन जाय? हमारा अनुभाव और प्रयत्न रहे कि सभी को आत्म-ज्योति के दर्शन हो तथा सबके हृदय प्रकाश से आलोकित। यह सब हो सकेगा लेकिन तभी जब आप इस बाह्य मगल गृह की मूल मगलमय भावना को अपने अन्त करण मे उद्घाटित करले।

महासतीजी श्री ज्ञानकवरजी, लताकवरजी और कई सन्त सतियो की तपस्या चल रही है तो इस दृष्टि से आपका कर्त्तव्य है

कि आप सभी पवित्र आत्माओं के उद्बोधन को सुनें, उसे अपने हृदय मे उतारें तथा तदनुसार मंगलाचरण में प्रवृत्त हो ।

भगवान् महावीर का समता-दर्शन समग्र मानव जाति तथा प्राणी समाज के उत्थान के लिये है । यहा किसी व्यक्ति, जाति या वर्गगत भेदभाव का कोई स्थान नही है । न ही किसी सम्प्रदाय या पार्टी का महत्त्व है । यहा तो सबके प्रति समभाव रहना चाहिये एव समान भ्रातृत्व की भावना से सबके हृदय एकीभूत बनने चाहिये । आत्म ज्योति को प्रज्वलित करने के लिये ऐसा ही आन्तरिक धरातल प्रतिफलित हो सकता है ।

अब इस मगल गृह मे प्रविष्ट होकर अपने आत्मीय मगल गृह को समझने का प्रसंग है—स्वागत एवं सर्व मगल की भावना आकने का प्रसग है ।

दि. १७-७-१९८९

प्रकाश होगा ज्ञान से

श्री श्रेयांस जिन अन्तरयामी.......

वर्तमान में भगवान् महावीर का धर्म-शासन चल रहा है। इस आध्यात्मिक शासन मे जीवन को सुव्यवास्थित बनाने का प्रसंग है। यहा जीवन की विविध समस्याओ का समाधान खोजने का भी प्रसग है—अन्तःकरण की वृत्तियो को नया प्रगतिशील मोड देने का भी अवसर है। यह भगीरथ कार्य तीर्थंकर देवो की ज्ञानमय छत्र-छाया मे ही सम्भव है। इस हेतु तीर्थंकर देवो ने अपुट्ठवागरणा (बिना पूछे ही कथन) के माध्यम से जनता को उद्‌बोधित करते हुए चतुर्विध सघ के समक्ष जो उपदेश-धारा प्रवाहित की है—वह कितनी अमूल्य है, उसका ज्ञान के प्रकाश में अनुभव ही किया जा सकता है।.

जिस प्रकार एक वृद्ध पिता सभी प्रकार की ऊची नीची परिस्थितियो मे व्यतीत हुए अपने जीवन के अनुभवो का सार अपनी सन्तान को वताता है इस दृष्टि से कि उन अनुभवो के सहारे वे अपने जीवन को सुगमतापूर्वक उन्नति की ओर ले जा सके उसी प्रकार प्रभु महावीर ने भी अपनी समस्त अनुभूतियो का रस अपनी उपदेश-धारा मे प्रवाहित किया है। केवलज्ञान एव केवल दर्शन से प्रकाशित उनकी उपदेश धारा प्रत्येक मोक्षाभिलाषी मानव के लिये ज्ञान गगा है। इसमे अवगाहन करके कोई भी प्राणी अपनी आत्मिक विकास-यात्रा प्रकाशमय वातावरण मे सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकता है।

त्रिकाल एवं त्रिलोक का ज्ञान :

अपनी कठिन साधना के फलीभूत होने पर भगवान् महावीर ने केवलज्ञान प्राप्त किया। इस ज्ञान में तीनो काल एवं तीनो लोक को हाथ मे रखे आवले की तरह देखने का सामर्थ्य समुत्पन्न हो जाता है। ऐसे अरिहन्त प्रभु यह भी देख लेते हैं कि सिद्ध भगवान् कैसी अनन्त एव अलौकिक शान्ति मे रमण कर रहे हैं तथा वे सम्पूर्ण लोकालोक को किस दृष्टि से देख रहे हैं? सिद्धो और अरिहन्तो के केवलज्ञान मे कोई अन्तर नही होता है। समग्र संसार मे क्या हो रहा है, अनन्त परमाणुओ मे परिवर्तन किस रूप मे घटित हो रहे हैं तथा चेतना–शक्ति से कैसे-कैसे कार्य सम्पादित किये जा सकते हैं—यह सब उन परम ज्ञानी आत्माओ ने देखा तथा वैसी आत्माए एव सिद्धात्माएं आज भी देख रही है और अनन्त काल तक देखती रहेगी। यह सर्वोच्च ज्ञान का अमर प्रकाश होता है।

प्रभु महावीर के दिव्य अनुभवो का सार प्राप्त करने की अभिलाषा से जब गौतम गणधर ने उनसे अनेकों प्रश्न पूछे, तब अपने जीवन के अन्तिम समय मे उन्होने उत्तराध्ययन सूत्र का उच्चारण किया। उसमें उन्होने जिन जीवन रहस्यो, आदर्श सिद्धातो तथा परम ज्ञान की परतो का उद्घाटन किया है, वह उन जैसे अतिविशिष्ट महापुरुष ही कर सकते हैं। उन पर जितनी गहराई से चिन्तन किया जायेगा, उतनी ही स्पष्ट अनुभूतियो के जागृत होने का प्रसग है। प्रत्येक विवेकशील प्राणी का अधिकार और कर्त्तय है कि वह उन पर चिन्तन मनन करे, उन्हें अपने आचरण मे उतारे तथा प्रदर्शित मार्ग पर अपने चरण आगे बढावे। वर्तमान जीवन के पिछडेपन को ध्यान मे रखते हुए प्रत्येक वक्ता और श्रोता प्रभु महावीर की उपदेश धारा को आत्मसात् करने का सतत प्रयास करे।

पहले देखें कि अंधेरा कितना है ?

ज्यो ही किसी भव्य प्राणी के अन्तःकरण में आत्म ज्ञान की पहली किरण फूटती है, उस की दृष्टि अपने ही भीतर पहुचती है। वह तब अन्तरावलोकन करता है इस उद्देश्य से कि वहा कितना अंधेरा है तथा उस अंधेरे को दूर करने के लिये उसे कितना प्रकाश

प्रसारित करना होगा ? तब वह यह भी जान लेता है कि प्रकाश होगा ज्ञान मे और वह ज्ञानाराधना मे जुट जाता है।

प्रभु महावीर का उपदेश है कि—
नाणस्स सव्वस्स पगासणाए।

हे भव्य, यदि तू शाश्वत एव स्थायी सुख चाहता है तो अपने आपको समग्र ज्ञान से प्रकाशित कर ले, क्योकि इस चेतना-शक्ति मे ही समग्र ज्ञान को प्रकट कर लेने का सामर्थ्य रहा हुआ है।

ज्ञान का उद्गम किसी बाहरी स्रोत से नही होता है। वह तो अपने ही अन्तरतम से प्रकट होता है। महापुरुषो के उपदेशो से ही ज्ञान के प्रकटीकरण की प्रेरणा मिलती है। उन्हे आत्मा श्रवण करती है और ज्ञान लाभ लेती है। उनका तो निमित्त बनता है परन्तु ज्ञानी आत्मा अपने उत्थान मार्ग पर आगे बढ जाती है। कोई निमित्त भी अपने आप मे महत्त्वपूर्ण होता है। निमित्त भी प्रेरणादायक मिल जाय और आत्मा तदनुरूप साधना प्रारम्भ करने के रूप मे उसका लाभ न उठा सके तो उस उत्तम निमित्त की प्राप्ति भी उपयोगी नही बन पाती है।

प्रभु महावीर की उपदेश धारा का लाभ उठाने के लिये भी कई आत्माए प्रयास रत हुई और उन्होने उससे वाछित लाभ उठाया। वह लाभ वे इसी कारण प्राप्त कर सकी कि उन्होने पहले अपनी आन्तरिकता मे देखा, वहा फैले हुए अधेरे का अनुमान लगाया एव ज्ञान के प्रसार मे वे तल्लीन बन गई। उस उपदेश धारा को उन्होने प्रकाश धारा के रूप मे देखी और उस प्रकाश को वे अपनी आन्तरिकता मे उतारती गई।

आत्मशक्ति का कृतित्व :

आत्मा जब तक बहिर्गामी रहती है और बाहर के पदार्थों को पाने के लिये भटकती है, तब तक उसे अपनी आतरिक शक्ति का बोध नही हो पाता है, क्योकि वैसी बहिर्गामिता मे ज्ञान की सही दृष्टि भी नही होती है। तीर्थंकरो एव ऋषि मुनियो का ज्ञान आनो आत्मा

है । यह सब कठिन साधना के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है । आप लोग तरह-तरह की पुस्तकें पढते हैं किन्तु क्या उस ज्ञान को भी भीतर उतारने की कला आपने सीखी है ? बाहर का कितना भी ज्ञान हो लेकिन अगर तोते की तरह लिया है तो उसका कोई विशेष उपयोग नही होगा । आतरिक विश्लेषण के साथ स्वय के पुरुषार्थ एव स्वयं की साधना द्वारा ही जो गूढ ज्ञान अर्जित किया जाता है, वही ज्ञान जीवन के विविध रहस्यो की परतें खोल सकता है तथा भीतर के छिपे हुए अलौकिक ज्ञान को प्रकट कर सकता है ।

ज्ञान से रूपान्तरण प्रक्रिया .

सही ज्ञान का अर्जन हो पाया है या नही—इसकी पहिचान के लिये यह देखना होगा कि क्या उस ज्ञानार्जन से व्यावहारिक जीवन मे मगलमय रूपान्तरण हो रहा है ? सही ज्ञान के सुप्रभाव से जीवन मे रूपातरण की शुभ प्रक्रिया प्रारम्भ हो ही जानी चाहिये । ज्ञान उस ज्ञानी के चरित्र मे क्रियान्वित होने लगे—यह एक आवश्यक वस्तु-स्थिति होती है ।

मै आप लोगो से ही पूछूं कि वक्ता जिन्दगी भर सुनाता है और श्रोता वरावर सुनता है लेकिन यदि दोनो के जीवन में उनका आचरण रूपान्तरित नही होता तो क्या वह ज्ञान का सुनना और सुनाना सार्थक कहा जायेगा ? इस प्रश्न का उत्तर आप दे सकते है, किन्तु सही उत्तर देना जरा टेढा काम है ।

आप सोचिये कि यह स्थान एक प्रकार से धार्मिक विद्यालय है और यहां सभी विद्यार्थी है । मैं भी अपने आपको विद्यार्थी ही समझता हू । सभी विद्यार्थी हैं तो हिसाव लगावें कि हम यह विद्याध्ययन कितने वर्षों से कर रहे हैं ? यह अपने अन्तर्पट को खोलकर स्पष्ट करना है कि कितना तो ज्ञान लाभ किया और कितना अपने जीवन मे रूपान्तरण किया है ? आप लोग तो अधिकाशत व्यापारी हैं और व्यापारी हिसाव किताव करने मे वडे चतुर होते हैं । एक समय की वात है कि एक जवाईजी अपने ससुराल गये। सोचा कि वहुत दिनो मे जा रहा हू सो वहा हलुआ वनेगा ही—खूव

डटकर खाऊगा । वे जब जीमने बैठे तो पता चला कि हलुए का स्वाद तो खारा है । वे व्यापारी थे—झट समझ गये कि भूल से शक्कर की जगह नमक डाल दिया गया है । तो आप भी जाचिये और परखिये कि जिनवाणी का श्रवण मनन करते हुए दीर्घकाल व्यतीत हो गया है, फिर भी सामान्य जीवन मे सुन्दर रूपान्तरण क्यो नही हो रहा है ? वहां तो हलुए मे नमक गिर गया था लेकिन जिनवाणी तो मधुर ही मधुर है—फिर उसका मिठास आप लोगो के जीवन मे घुल-मिल क्यो नही रहा है ? यह निश्चय रूप से चिन्तनीय स्थिति है ।

रूपान्तरण होगा साधना से :

'पढप नाणं तओ दया' के अनुसार पहले ज्ञान लाभ कीजिये किन्तु जानकर भी निष्क्रिय रहे तो उस वृत्ति से जीवन का रूपान्तरण सम्भव नही है । सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र को रत्न-त्रय कहा गया है तथा मोक्ष प्राप्ति का मार्ग इसी रत्न-त्रय को माना गया है जिसका सरल अर्थ है कि अच्छा जानिये, अच्छे को अच्छा मानिये और जाने-माने हुए अच्छे को अपने आचरण मे उतार लीजिये । ज्ञान जब तक क्रिया मे नही उतरेगा तब तक उसकी उपयोगिता पर प्रश्न-चिह्न ही लगा रहेगा ।

ज्ञान को क्रिया मे उतारने का अर्थ है साधना के मार्ग पर अग्रसर होना । साधना का मतलब है ज्ञान को साधना, याने जाने हुए को व्यवहार मे लाना । हमने जाना कि सभी आत्माएं समान हैं तथा सबके साथ आत्मवत् व्यवहार किया जाना चाहिये । इस रूप मे हमने समता के आदर्श का ज्ञान किया तो इस ज्ञान के बाद परिस्थिति पैदा होती है कि हम इस समता को अपने दैनिक व्यवहार मे साकार रूप दें और प्रत्येक मानव व प्राणी के साथ समान रूप से सुख कर व्यवहार करे ।

अब इस ज्ञान एव क्रिया की दूरी को पाटने के लिये अभ्यास की आवश्यकता होती है । हमने जाना कि समता आदर्श सिद्धात है और हमने, समझिये कि उसे अपनी क्रियाओं मे उतार लेने का संकल्प भी स्वीकार कर लिया । किन्तु संकल्प पूर्ति के पहले सिद्धान्तानुसार

आचरण करने का सतत अभ्यास करना होगा ताकि वह सिद्धात हमारी समस्त वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो मे समा जाय–रम जाय।

इस अभ्यास को साधना का नाम दिया गया है। प्रभु महावीर ने इस साधना की पहली सीढी बताई है सामायिक को। अत विचार करें कि साधना मे सामायिक का क्या स्वरूप होता है?

सामायिक है समत्व की साधना :

सामायिक मे मूल शब्द है सम, जिसका अर्थ है कि व्यक्ति रागद्वेष से रहित होकर सर्व प्राणियो को अपनी ही आत्मा के समान समझे। राग और द्वेष के भावो को आप समझते हैं कि किसी भी व्यक्ति या पदार्थ पर उसे अपने ही लिये प्राप्त करने या सहेज कर रखने का जो ममत्व भाव पैदा होता है, उसे राग कहते हैं। राग का विपरीत भाव द्वेष कहलाता है। जिसे हम नही चाहते, उसके प्रति जो कटुता उभरती है, वही द्वेष भाव है।

राग और द्वेप के भावो की अवस्था मे किसी भी व्यक्ति अथवा पदार्थ का सम्यक् मूल्याकन असम्भव होता है। कोई हमको प्यारा है इसलिये नही कि उसमे कोई विशिष्ट गुण है बल्कि मात्र इसलिये कि उसे हम चाहते हैं। इसी प्रकार द्वेष भरा दिल किसी को भी विरोध की नजर से देखता है। इस प्रकार राग और द्वेष के भाव गुणात्मक दृष्टि उत्पन्न नही होने देते। अत राग और द्वेष को घटा कर और मिटा कर ही समत्व की स्थिति की सार्थक अनुभूति ली जा सकती है। तभी अपनी निज आत्मा को समझ कर अन्य आत्माओं के अनुभावो का ज्ञान किया जा सकता है। ऐसे ज्ञान के आधार पर ही आत्मवत् व्यवहार की शिला टिकाई जा सकती है।

अत. सामायिक व्रत का पहला अभिप्राय यह है कि राग और द्वेष को घटाया जाय एव अन्ततोगत्वा मिटाया जाय। सामायिक व्रत का समय दो घडी याने ४८ मिनिट का रखा गया है ताकि कम से कम इस समय मे तो साधक राग द्वेप से रहित बने ही। फिर ऐसा अभ्यास शनै शनै साधक के पूरे जीवन मे राग और द्वेष की वृत्तियो को शिथिल बना देगा।

राग द्वेष से रहित होकर जब साधक संसार के समस्त प्राणियो को आत्मवत् समझता है तब उसे सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है—वही सामायिक है। सामायिक की कालावधि मे हिंसा के समस्त कार्य त्याग देने होते है क्योकि राग द्वेष रूप विचारो की हिंसा भी छोड दी जाती है, तब आचार की हिंसा का प्रश्न ही नही रहता। इसलिये सामायिक मे निरवद्य कार्यों मे ही प्रवृत्ति रहनी चाहिये। समता के धरातल पर राग द्वेष रहित पुरुष की जब प्रतिक्षण कर्मों की निर्जरा होती है और उससे आत्मानुभूति मे जो अपूर्व शुद्धि फैलती है—वही शुद्ध सामायिक है। सामायिक की साधना से ज्ञान, दर्शन एव चारित्र तीनो गुणो की प्राप्ति होती है और ये ही तीन प्रमुख गुण हैं जो जीवन का समूचा एवं सर्वांगीण रूपान्तरण करने मे परम प्रभावशाली होते है।

सामायिक पहली ही नहीं आखरी सीढ़ी भी :

सामायिक एक प्रकार से समत्व की साधना की पहली सीढी होती है तो इसकी विशुद्धता-वृद्धि के साथ यह जीवन-विकास की आखरी सीढी भी हो जाती है।

समत्व की साधना जीवन की मौलिक साधना होती है क्योंकि इस संसार मे सारी बुराइयों व विकृतियो का मूल राग और द्वेष की वृत्तियों में ही रहा हुआ है। मानव अपनी मानवता छोड कर पशु और राक्षस बनता है तो अपने अन्त करण मे अंधेरा फैलाने वाले राग और द्वेष के कारण ही भीतर और बाहर विषमता की आग जलती रहती हैं। इस आग को शात करने की एक मात्र साधना है—सामायिक। राग द्वेष से रहित होने का सकल्प और समत्व की अनुभूति इसी सामायिक से प्राप्त होती है। अत. सामायिक की साधना मनुष्य को मनुष्यतामय ही नही बनाती बल्कि उसे देवत्व से भी आगे ईश्वरत्व तक पहुंचा देती है।

जीवन के विकास क्रम के अनुसार इस सामायिक व्रत के चार भेद शास्त्रकारों ने बताये हैं :—

(१) सम्यक्त्व सामायिक—समत्व का अनुभव निसर्ग या स्वभाव से अंकुरित हो या धर्म श्रवण से—उसे सम्यक्त्वगत अनुभाव

कहा गया है । सम्यक्त्व का अर्थ है सत्य तत्त्वों का ज्ञान एव उनके प्रति सत्य निष्ठा । इस श्रद्धान से सामायिक का जो प्राथमिक स्वरूप ढलता है उसे इसका पहला भेद माना गया है । सम्यक्त्व सामायिक में तत्त्व श्रद्धान देव नारकी की तरह निसर्ग से भी हो सकता है तो अधिगम अर्थात् तीर्थंकरादि के समीप उपदेश श्रवण से भी हो सकता है।

(२) श्रुत सामायिक—गुरु के समीप में सूत्र, अर्थ या इन दोनों का विनयपूर्वक अध्ययन करना श्रुत सामायिक है । सम्यक्त्व वोध की जागृति एव तत्व श्रद्धान के बाद शास्त्र श्रुति परिपुष्टता के साथ सम्भव हो जाती है ।

(३) देशविरति सामायिक—अनुभाव एवं ज्ञानपरक पृष्ठभूमि वनने के बाद आचरण का क्रम प्रारम्भ हो जाता है जो सामायिक की कालावधि तक ही सीमित नही रहता—वह पूरे जीवन मे व्याप्त हो जाता है । इस क्रम का पहला चरण है देशविरति आचरण अर्थात् श्रावक का अणुव्रत-धर्म जिसे एक देश विषयक चारित्र का नाम दिया गया है । यह देशविरति सामायिक है ।

(४) सर्वविरति सामायिक—जीवन-विकास की आखरी सीढी या आचरण की सर्वोच्च स्थिति है सर्वविरति सामायिक जो साधु के पच महाव्रत रूप सर्वविरति चारित्र से सम्पन्न होती है । यही सर्वविरति सामायिक अपनी विशुद्धता की श्रेणियो मे साधुत्व से समुन्नत वनती हुई अरिहन्त एव सिद्ध अवस्था तक पहुच जाती है ।

इस रूप मे सम्पूर्ण सावद्य व्यापार के त्याग एवं धर्म-ध्यान व समत्व मे प्रवृत्त कराने वाली सामायिक-साधना साधक को एक दिन समत्व के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ करा देती है ।

ऐसी सामायिक को भीतर मे प्रकट करें :

यदि जीवन का सच्चे अर्थों मे रूपातरण करना है तो ऐसी सामायिक को भीतर मे प्रकट करें ज्ञानमय प्रकाश के साथ । मूल्यांकन करें कि इतने वर्षों से सामायिकें करते चले आ रहे हैं लेकिन वास्तव मे यह सामायिक अन्त-करण मे प्रकट हुई अथवा नही और हुई तो कितने

अंशों में ? सामायिक के पाठ तो गिन लेते हैं किन्तु राग द्वेष से कितनी विरति होती है अथवा समत्व के अनुभाव का कितना सचार होता है—अनुभव करने की यही मुख्य बात है। यह अनुभव होगा इस तथ्य के द्वारा कि आप अपनी इस सामायिक को घर और बाजार मे भी फैला पाए है या नही—अपनी दिनचर्या के आठो पहर मे राग-द्वेष रहित समता का प्रसार हो रहा है अथवा नही।

आप अपने घर मे खीर खांड का भोजन करते हैं तो उसका भी असर डकार वगैरा के रूप मे आप काफी देर तक अनुभव करते हैं, फिर सामायिक साधना जैसे आदर्श व्रत का तो श्रेष्ठ प्रभाव स्थिरतापूर्वक फैलना ही चाहिये। किन्तु इस प्रभाव के बारे मे सच्चाई से आप चिन्तन अवश्य करे।

हम साधु लोग अगर यह समझलें कि साधु की पोशाक धारण करके ही हम साधु जीवन मे उत्तीर्ण हो गये हैं तो यह समझ सही समझ नही होगी। सामायिक और साधुता का ज्ञान एव आचरण भीतर में प्रकटित एव प्रकाशित हो—तभी उनकी सत्यता स्पष्ट हो सकेगी। यह अन्तरावलोकन का प्रश्न है और स्वय के द्वारा ही इसकी समीक्षा की जानी चाहिये।

समभाव से रूपान्तरण :

सामायिक की साधना जब अन्तर्हृदय मे प्रकट होगी, तभी वहा से प्रकाशित होगा समभाव अर्थात् समस्त प्राणियो के प्रति समान व्यवहार का सकल्प। यह सकल्प सम्यक् ज्ञान से ज्योतित होगा और उसके ही प्रभाव से परीक्षा की कठिन घड़ियो मे भी समभाव स्थिर बना रहेगा। अपने ज्ञान और आचरण के साथ जब स्थिरता-पूर्वक समभाव जुड जाता है तब वैसा जीवन अपने विकास की अन्तिम ऊंचाई भी छू लेता है। समभाव के प्रभाव से जीवन मे एक बार जो रूपान्तरण का क्रम शुरू होता है, वह सर्वोच्चता के शिखर तक भी पहुचता है।

किन्तु एक दृष्टान्त बताऊं कि आप लोगो मे सामायिक का असर कितनी आसानी से धो पोंछ दिया जाता है। एक दादाजी ने सामायिक की और सामायिक से उठते ही गुस्से मे अपने पोते के एक

थप्पड़ लगाई कि अभी उसने उनकी जेब से दस रुपये का नोट क्यों निकाला ? फिर उस नोट को उन्होने अपनी बहू पर फेंका कि वह अपने पुत्र को बिगाड रही है । बहू के झटके से वह नोट चूल्हे में गिर गया और जल गया । फिर तो दादाजी का क्रोध देखने लायक ही था । तो क्या ऐसी ही होना चाहिये सामायिक का साट ?

अत: ज्ञानीजन का कथन है कि अपने ज्ञान एवं आचरण को समतामय बनाकर तू सामायिक की साधना कर जिससे जीवन के समग्र स्वरूप का सच्चा और शुभ रूपान्तरण हो सके । ज्ञान के प्रकाश मे विचरण कर और शाश्वत सुख को पा। दि. १६-७-१६८६

धर्म का चिन्तन

श्री श्रेयांस जिन अन्तर्यामी...............

मंगलाचरण के प्रसग से तीर्थंकर देवों मे से किसी एक देव की स्तुति की कुछ कड़िया (पक्तिया) प्रस्तुत कर दिया करता हू। इनके माध्यम से हमे अपने जीवन का तथा मानवीय तन का अनुसधान करना है, मूल्य आकना है तथा उनके सदुपयोग की सम्यक् विधि पर चिन्तन करना है।

मनुष्य जीवन और शरीर अमूल्य हैं किन्तु उनके सही मूल्यांकन से ही यह जाना जा सकेगा कि उन मूल्यो को किस प्रकार चरितार्थ करें? आज जिस स्थल पर सभी बैठे हुए हैं, उसके महत्त्व को आप जान रहे हैं—यह धर्म विद्यालय है और धर्म समग्र जीवन, तन तथा मानवीय मूल्यो का परिचायक होता है अत. धर्म पर चिन्तन करने से हमे ज्ञानियो द्वारा दर्शाया गया उन्नति-मार्ग स्पष्ट हो सकेगा।

हम धर्म की चर्चा कर रहे हैं न कि राजनीति या व्यापार की। उस ओर आपकी रुचि कुछ अधिक हो सकती है, लेकिन धर्म की ओर अत्यधिक रुचि होनी चाहिये। धर्म की दृष्टि से समग्र मानव जाति एक ही है, लेकिन आज इसमे जो विभेद दिखाई दे रहे हैं उनके कुछ कारण हैं। शास्त्रकारो ने जिस जाति का वर्णन किया है, वह है पचेन्द्रिय जाति अर्थात् परिपूर्ण इन्द्रिय-शक्तियो वाली जाति। अब इसमे अनगिनत जातिया और उपजातिया बताई जाती हैं, वे सब

स्वय मनुष्य की बनाई हुई है । ये भेद मनुष्य ने स्वय क्यो रचे-यह लम्बी कहानी है लेकिन धर्म इन सब भेदो को नही मानता । सच्चा धर्म समता का मार्गदर्शक होता है जो समस्त मानव जाति ही क्या, सम्पूर्ण प्राणी-समाज का हित सुझाता है । सर्वहित का लक्ष्य ही सच्चे धर्म का श्रेष्ठ लक्ष्य होता है ।

धर्म होता क्या है ?

धर्म शब्द प्रिय और आकर्षक होता है, लेकिन आज के युग मे इस शब्द का भी दुरुपयोग होने लगा है तथा इसकी आड़ मे मानव मानव के बीच मे भेद की दीवारे खडी की जाने लगी हैं । जबकि धर्म परलोक से भी पहले इस लोक और वर्तमान जीवन को सुखी एव मानवता पूर्ण बनाने वाला है । धर्म के प्रति जनतत्रीय व्यवस्था मे उपेक्षा भडकाई जाती है । धर्म-निरपेक्षता ऐसी ही बात है । क्या सच्चा धर्म निरपेक्षता का वस्तु विषय है ? धर्म के नाम से जाने जाने वाले मत मतान्तर अवश्य विभेदकारी होते हैं किन्तु सत्य को प्रकट करने के स्थान पर सत्य का गला घोटने वाली नीति की घोषणा क्यो ? आवश्यकता इस प्रयास की है कि धर्म के नाम पर पनपाई जाने वाली गलत धारणाओ और विसगतियो का पर्दाफाश किया जाय । धर्म की लाछना न उचित है और न करणीय । धर्म की आड़ मे कुछ स्वार्थी लोग अपनी तुच्छ इच्छाओ को पूरी करने का दुस्साहस करते हैं, इसी कारण धर्म को बदनाम करने का मौका पैदा होता है। आज ऐसे स्वार्थी लोगो के मुंह पर चढे नकाब को हटाने की जरूरत है ताकि धर्म का दुरुपयोग करने वालो का असली चेहरा सब लोग समझ सके ।

वस्तुत. धर्म सर्व शुद्ध होता है, एक होता है, उसी तरह जिस तरह सारी मानव जाति एक होती है । मानव जाति के टुकडे नही किये जा सकते तो धर्म भी अविभाज्य होता है । पहले भी धर्म की मनमानी व्याख्याए की गई है और आज भी की जाती है किन्तु इन व्याख्याओ में धर्म के वास्तविक लक्षणो का परिचय कम ही मिलता है । 'धर्म धर्म सब कोई कहे, धर्म न जाने कोय' का ही वातावरण ज्यादा दिखाई देता है । आज धर्म के नाम पर लड़ाइया होती है, दगे होते हैं

और खून-खराबा होता है जिससे लगता है कि धर्म सिर्फ लड़ना सिखाता है। लेकिन हकीकत मे ऐसा नहीं है। धर्म लडना नही सिखाता बल्कि द्वेष तक करने की इजाजत नही देता है। धर्म तो सिखाता है इस जीवन को जीने की सच्ची कला और भाइचारे, प्रेम व सहयोग से हिलमिल कर रहने की मधुर विधि। धर्म मे नाम के मोह तक का स्थान नही है, फिर अलग अलग मठो महन्तो, सम्पत्तियो और उनसे सम्बन्धित विवादो का प्रश्न ही कहा है ? ये सब विवाद नामवर मतों के होते हैं जो मंडन और खडन में पडकर 'महाभारत' रचने के लिये तैयार हो जाते है।

धर्म के नाम पर आज की बिगड़ती हुई परिस्थितियो की बारीकी से जाच की जानी चाहिये ताकि धर्म की खोल मे अधर्म का चलन बद हो। धर्म का आधार तो वैज्ञानिक होता है और यही कारण है कि वैज्ञानिक दृष्टि रखने वाले लोग अब सच्चे धर्म के प्रति अधिकाधिक आकर्षित होते जा रहे हैं। यह आकर्षण विवेकशील युवा वर्ग मे भी बढ रहा है।

युवा वर्ग का नया मोड़—

वैज्ञानिक मानस के विकास के साथ आज के युवावर्ग में सच्चे धर्म के प्रति रुची बढ रही है—यह नया अनुभव है। युवावर्ग का यह नया मोड निश्चय ही आशापूर्ण है। सच पूछे तो युवा वर्ग कभी भी धर्म से विमुख नही हो सकता है, बशर्ते कि बचपन से उनकी जिज्ञासाओ के सही समाधान उन्हे मिल सके। छोटा सा बच्चा भी जब पिता की गोद मे बैठता है तो तरह तरह के अपने प्रश्नो की झड़ी लगा देता है। अधिकतर तो ऐसा होता है कि उसके प्रश्नो से घबराकर माता पिता उसे झिड़क देते हैं क्योकि वह एक के वाद दूसरा प्रश्न विना थके हुए पूछता ही जाता है। जबकि सही तरीका यह है कि वच्चे के प्रश्न का सही जवाव उसे इस तरह समझावे कि उस की मस्तिष्क शक्ति उर्वर हो तथा उसका ज्ञान-विकास सुगम वन जाय।

समझें कि कोई भाई या वहिन सामायिकी लेकर वैठी है तथा उसका बच्चा पास आकर पूछता है कि यह क्या है या इस तरह क्यो वैठे हैं ? उस समय उसे स्थूल रूप मे ही बतावे कि इस तरह

बैठते हैं तब गुस्सा नही करते, झूठ नही बोलते और किसी की बुराई नही करते बल्कि सबको अपना भाई समझते हैं, सबको अच्छी बात बताते हैं और सबके भले की बात सोचते हैं। फिर वह जब भी आप सामायिक मे बैठेंगे, आपको देखता रहेगा और वास्तव मे जाच करेगा कि जैसा आपने कहा, वैसा आप असल मे करते हैं या नही। ऐसी ही मन स्थिति पर बच्चो मे सुसस्कार या कुसस्कार ढलते हैं। अगर बच्चा आपके आचरण से सन्तुष्ट होता है तो आपकी सारी बातो को गले उतार लेता है लेकिन यदि आपकी करनी आपकी कथनी के विरुद्ध होती है तो बच्चे के मन में कुसस्कार ही नही जमते बल्कि उसके मन मे से आपकी विश्वसनीयता भी उठ जाती है। ये बहुत बारीक बाते हैं, जिनका अधिकाश माता-पिता खयाल तक नही रखते हैं और बाद मे शिकायत करते हैं कि उनके बच्चे बडे होकर धर्म से दूर भागते हैं। आप बच्चो को कोसते हैं, उनकी पढाई को कोसते हैं लेकिन अपने आपको नही कोसते कि अपनी ही नादानी मे आपने अपना, अपने परिवार, समाज व राष्ट्र का तथा सबसे बढ कर अपने बच्चो का कितना नुकसान किया है।

तो मैं कह रहा था कि युवा वर्ग ने आज धर्म के प्रति नया मोड़ लिया है और आपको उसे समझना चाहिये तथा उसे पुष्ट बनाने के उपाय करने चाहिये। बच्चो और युवाओ की कोमल भावनाओ को बिना ठेस पहुंचाए यदि आप उनके सही विकास का रास्ता उन्हे सुझायेंगे तो सही मानिये कि वे उस पर अधिक निश्चल गति से चलना चाहेगे। धर्म पर चिन्तन की बात भी इसी रूप मे लागू होती है कि युवा वर्ग धर्म चिन्तन के प्रति किस तरह प्रभावित हो ?

धर्म की सही व्याख्या-

प्रभु महावीर ने धर्म का विशद विश्लेषण एक छोटी सी व्याख्या मे कर दिया है कि 'वत्थु सहावो धम्मो' अर्थात् जो वस्तु का मूल स्वभाव है, वही उसका धर्म है।

तो धर्म का अर्थ हुआ मूल स्वभाव। जो मूल स्वभाव में है, वह धर्म मे है और जो अपने मूल स्वभाव मे नही है, वह धर्म मे

नही है याने अधर्म में है। अतः अधर्म होगा अपने मूल स्वभाव से विपरीत जाने पर। मूल स्वभाव से विपरीत स्थिति को कहा गया है विभाव। स्वभाव धर्म और विभाव अधर्म।

स्वभाव का अर्थ होता है अपना भाव। अपना भाव ही अपना मूल भाव होता है। जब तक अपने मूल भाव में कोई चले तो उसका चलना न अपने लिये अहितकर होता है, न दूसरो के लिये। जब कोई स्वभाव छोडकर विभाव पकडता है, तभी बुराइयों का सिलसिला शुरू होता है, विकृति और पतन का क्रम चलता है। यह तो स्वभाव छोडने वाले की अपनी गति होती है लेकिन एक की गति भी बिगडकर दूसरो के लिये कष्ट का कारण बन जाती है। इसलिये विभाव सभी के लिये दुःख दायक होता है।

धर्म की धारणा तभी भली भांति समझ में आयगी, जब पहले स्वभाव और विभाव के गतिक्रम को ठीक तरह से समझ ले। इसे काष्ठ खंड के पारम्परिक दृष्टान्त से समझने मे सुविधा रहेगी। काष्ठ खंड याने लकडी के टुकडे का अपना स्वभाव हल्का होता है और पानी की सतह पर तैरने का होता है—यह सभी जानते हैं। लडकी का टुकडा पानी पर तैरे-इसमे कोई दोष नही देगा। लेकिन उसी लडकी के टुकडे को अगर लोहे की डिब्बी मे बन्द करके पानी में डालें तो वह टुकडा फिर सतह पर तैर नही पाएगा बल्कि ठेठ तले तक डूब जायगा। तो इस तरह उसके डूब जाने को उसका स्वभाव नही मानेंगे बल्कि कहेगे कि वह अपने स्वभाव के विरुद्ध लोहे की संगति से डूब गया है। इसे उसका विभाव कहेगे कि उस पर लोहे का भार चढ गया है और उसके असर मे वह विपरीत चाल चला है।

अब इस दृष्टान्त को अपनी आत्मा पर घटाइये-अपने जीवन पर घटाइये। जिसको थोडा सा भी अपने भीतर झाकने और अपनी आत्मा की आवाज सुनने का अभ्यास होगा, वह अपने मूल स्वभाव का बडी आसानी से अनुमान लगा सकेगा। जब भी कोई दृश्य या घटना सामने आती है तो जो पहली प्रतिक्रिया होती है, वह आन्तरिक होती है। फिर बाहरी परिस्थितियो के कारण मानव उसे तोड मरोड देता है और अपने आचरण को उसके अनुकूल नही ढालता—यह दूसरी बात है।

किसी पीडा से कराहते हुए एक प्राणी को आप देखते हैं तो तुरन्त प्रतिक्रिया मे प्रत्येक मानव के भीतर करुणा जागती है और वह उस पीड़ित को अपनी यथाशक्य सहायता पहुंचाकर हल्का होना चाहता है।ऐसी उसकी मूल चाह उसके मूल स्वभाव का द्योतन करती है। आत्मा का मूल स्वभाव भी हल्का और ऊर्ध्वगामी होता है। यदि मानव अपनी इस सरलता तथा सहयोगिता को अपने आचरण मे बसा ले तो उसके जीवन का उन्नयन होता रहेगा और वह अपने मूल स्वभाव मे स्थित बना रहेगा।

किन्तु आज मानव-लीला के जो अधिकांश दृश्य दिखाई देते हैं, वे उसके विभाव मे चलने और काम करने के कारण उपस्थित होते हैं। विभाव मे अपने जीवन को धकेल कर मानव विपथगामी और अधोगामी हो जाता है। इस पतन के जो दुष्परिणाम सामने आने चाहिये, वे ही आज सबके समक्ष प्रकट हो रहे हैं।

इस सारे विश्लेषण का सार यह है कि मनुष्य का मूल स्वभाव मुख्यतः उसकी ही प्रतिक्षण जाच और परख का विषय है और वही निर्णय ले सकता है कि किस समय उसकी वृत्तिया तथा प्रवृत्तिया स्वभाव के अनुकूल चल रही है तथा किस समय मे प्रतिकूल ? जब भी वह अपने को विभाव मे बहता हुआ समझे, वही अपने को नियंत्रित एव सन्तुलित बनाकर मूल स्वभाव मे लौट जाने का उपक्रम कर सकता है।

यही धर्म की मूल व्याख्या है और मूल स्थिति है जो मनुष्य के मूल हृदय की अवस्था होती है—मनुष्य के स्वय के निर्णय करने की वास्तविकता।

मानव धर्म का विवेचन–

स्वभाव–विभाव के मूलाधार पर चिन्तको और साधको ने जो अनुभूतिजन्य सार निकाला है, एक प्रकार से वही सब कुछ मानव-धर्म के रूप मे व्यक्त हुआ है। मानव धर्म का शुद्ध अर्थ है सम्पूर्ण मानवीय मूल्यो के अनुसार मानव-मानव के बीच किये जाने वाले व्यवहार का स्तर तथा व्यक्ति एवं समष्टि के प्रगतिशील सम्बन्धो का विवेचन। इसमें संकुचित दृष्टिकोणो का कोई स्थान नही। प्रत्येक सिद्धान्त की कसौटी समग्र मानवता के विकास पर आधारित रहती है।

अतः मानव धर्म के दृष्टिकोण से धर्म की परिभाषा एक शब्द मे की जा सकती है और वह शब्द है मानवीय कर्त्तव्य । मानव द्वारा वे करणीय कार्य जिनसे स्वहित एव सर्वहित साधा जा सके । मानवता के स्तर से गिर जाने को पतन कहिये या दुर्गति और उस स्तर से ऊपर उठने का नाम है सुगति । अत धर्म वह है जो दुर्गति मे गिरते हुए प्राणी को धारण करे और उसे सुगति मे पहुंचावे । आगम के अनुसार मानव धर्म की व्याख्या करेंगे तो वह यह होगी कि इहलोक और परलोक के सुख के लिये हेय, जो छोडने लायक है तथा उपादेय जो ग्रहण करने लायक है उन प्रवृत्तियो को तदनुसार छोडे व ग्रहण करे—वह धर्म मे विचरण करना होगा ।

ऐसे मानव–धर्म के दस लक्षण बताये गये हैं जिनकी मान्यता के विपय मे कही भी कोई विवाद नही है —

(१) क्षमा-क्रोध पर विजय प्राप्त करना तथा क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी शान्तचित्तता बनाये रखना ।

(२) मार्दव-मान (घमंड) का त्याग करना । जाति, कुल, रूप, ऐश्वय, बल, पद और यहा तक कि तप, ज्ञान, लाभ मे से किसी का भी मद नही करना । मिथ्याभिमान का सर्वथा त्याग कर लेना ।

(३) आर्जव–कपटरहित होना । माया, दभ, आडम्बर, धूर्तता आदि को पूर्ण रूप से छोड देना ।

(४) मुक्ति-लोभ पर विजय प्राप्त करना । पौद्गलिक एव भौतिक वस्तुओ पर तनिक भी आसक्ति नही रखना ।

(५) तप-इच्छाओ का निरोध करना तथा कष्ट सहने की क्षमता बनाना ।

(६) सयम-मन, वचन एव काया की दुष्प्रवृत्तियो पर अकुश लगाना व अशुभ प्रवृत्तिया न होने देना । क्रोध, मान, माया व लोभ रूप चारो कपायो को जीतना तथा पाचो इन्द्रियो को वश मे रखना। प्राणातिपात आदि पाच पापो से निवृत्त होना और सयमित बनना ।

(७) सत्य-सत्य, हित और मित और वचन बोलना ।

(८) शौच—शरीर के अंगों को पवित्र रखना तथा दोष रहित आहार लेना द्रव्य-शौच है तो आत्मा के शुभ भावो को अभिवृद्ध करना भाव शौच है।

(९) अकिंचनत्व—किसी वस्तु पर मूर्छा—ममता न रखना। परिग्रह बढाये, सग्रह करने या रखने का त्याग करना।

(१०) ब्रह्मचर्य—नववाड सहित पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना।

मानव धर्म का मूल इस प्रवृत्ति मे भी है कि छोटे बड़े सभी जीवो की रक्षा की जाय और उन्हे बचाया जाय। इसी प्रकार कर्मों के मैल से मुक्त होने के लिये सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चरित्र रूपी तीन गुणो की जो आराधना है, वह भी धर्म ही है। सारांश में यो मान लें कि जिस अनुष्ठान या कार्य से स्व-पर कल्याण की प्राप्ति हो, वही धर्म है। मानव को कल्याणोन्मुख बनाने वाली समस्त प्रवृत्तियों का नाम ही धर्म है।

धर्म के मार्ग पर विकास यात्रा-

कल्याण साधने की विकास-यात्रा पर धर्म मानव को कैसे अग्रसर बना सकता है—इस प्रश्न पर अविक विवेचन के रूप में धर्म के विभिन्न भेदो का उल्लेख किया गया है। ये भेद धर्म के चहुंमुखी स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं तो मानव को भी धर्म धारण करने की विविध प्रक्रियाओ का ज्ञान कराते है। धर्म के वैचारिक एवं क्रियात्मक स्वरूप को स्पष्ट किया गया है धर्म के इन मौलिक दो भेदो में—

(१) श्रुत धर्म-अपने साधनामय जीवन के अनुभवों के बाद महापुरुषों ने सामान्य जीवन विकास के सम्बन्ध मे जो उपदेश दिये—जो वाणी गुंजाई-उसे मनुष्य सुनता है अत उसे श्रुत धर्म का नाम दिया गया है। यही वाणी अंग, उपाग, सूत्र और शास्त्रो के रूप मे संकलित हुई है अत. वाचना (पढना) पृच्छना (पूछना) रूप स्वाध्याय को भी श्रुत धर्म ही कहा है। सूत्र एव उनके अर्थ को समझने की दृष्टि से श्रुत धर्म के दो भेद किये गये हैं—सूत्र श्रुत धर्म एवं अर्थ श्रुत धर्म।

(२) चारित्र धर्म-जो कुछ कल्याणकारी ज्ञान सुनकर प्राप्त किया जाय उसे अपने आचरण मे उतारने तथा उससे आत्म-स्वरूप को विशुद्ध बनाने के प्रयास का नाम चारित्र धर्म है। इस धर्म की दो सीढिया मानी है—एक आगार धर्म अर्थात् सीमित रूप से श्रावक के अणुव्रतो का पालन किया जाय तथा दूसरा अनगार धर्म याने सर्वविरति रूप साधु के पंच महाव्रतो की तीन करण तीन योग से साधना की जाय।

ये दोनो भेद प्रधानत: व्यक्तिपरक हैं कि व्यक्ति श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करें एव उस ज्ञान को अपनी सदाचरण रचना मे क्रियान्वित करे। व्यक्ति की यह ज्ञान एव चारित्र-साधना स्वहित के लिये है तो उसके इस स्वहित मे मूलत सर्वहित का ही सद्भाव समाहित रहता है। स्वहित एव सर्वहित की सम्मिलित भावना को धर्म के इस रूप मे किये गये निम्न चार भेद भी व्यक्त करते हैं.—

(१) दान—स्व एव पर उपकार के लिये अर्थी याने जरूरत मन्द पुरुष को जो दिया जाता है, उसे दान कहते हैं। दान कई प्रकार के हो सकते हैं जैसे अभयदान, अनुकम्पा दान, सुपात्रदान, ज्ञानदान आदि। इनका पालन करना दान धर्म कहलाता है।

(२) शील (ब्रह्मचर्य) काम वासनाओ एवं मैथुन का त्याग करना शील है। शील का पालन करना शील धर्म कहलायगा। शील सर्व विरति एव देश विरति रूप से दो प्रकार का होता है। देव, मनुष्य एव तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन का सर्वथा तीन करण तीन योग से त्याग करना सर्व विरति शील है। स्वपत्नी सन्तोष तथा पर-स्त्री विवर्जन रूप ब्रह्मचर्य देशविरतिरूप शील है।

(३) तप—तप वह जो आत्मा के आठ प्रकार के कर्मों तथा शरीर के सात धातुओ को जलाता है। तप बाह्य एव आभ्यन्तर रूप दो प्रकार का है। अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता ये छः बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—ये छः आभ्यन्तरतप है।

(४) भावना-आत्मा अशुभ भावो को दूर करके अपने मन को शुभ भावो मे प्रवृत्त करने के लिये अनित्यता, अशरणता आदि बारह भावनाओं का जो चिन्तन करती है, वह भावना या आराधना होती है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ ये भी चार भावनाए हैं। व्रतो को निर्मलता पूर्वक पालन करने के लिये व्रतो की पृथक् पृथक् भावनाए भी बतलाई गई है। मन को एकाग्र बनाकर उसे इन शुभ भावनाओ मे लगा देना ही भावना धर्म है।

मानव धर्म की व्यापकता -

धर्म साधना का केन्द्र बिन्दु मानव को ही माना गया है क्योकि सभी प्राणियो मे समुन्नत विवेक एव कर्त्तृत्व शक्ति का धारक मानव ही होता है। और मानव ही समाज या राष्ट्र का निर्माता भी होता है। मानव का एक पक्ष जहा वैयक्तिक है तो उसका दूसरा पक्ष सामूहिक या सामाजिक भी है। समाज या राष्ट्र मानव से भिन्न नही होता। मानव ही विभिन्न वर्गो मे अपने साथियो के साथ जब विभिन्न प्रकार के कर्त्तव्यों का निर्वाह करता है तब वे कर्त्तव्य ही उसके सामूहिक या सामाजिक पक्ष का परिचय देते है।

इस दृष्टि से मानव धर्म की व्यापकता एक व्यक्ति से समस्त व्यक्तियो तक फैली हुई मानी जाती है। इस व्यापक मानव धर्म को भी विचारको ने दस प्रकारो मे निम्न रूप से आवद्ध किया है :—

(१) ग्राम धर्म—प्रत्येक ग्राम के रीति रिवाज और उनकी आन्तरिक व्यवस्था भिन्न भिन्न रूप मे हो सकती है अत उनके अनुरूप चलना तथा उन्हे उन्नतिप्रदायक बनाना ग्राम धर्म कहा गया है।

(२) नगर धर्म-इसी प्रकार नगर विशेप मे रहते हुए वहा के आचरणीय धर्म को नगर धर्म कहा गया है।

(३) राष्ट्र धर्म-इसी रूप में राष्ट्र विशेप मे रहते हुए वहा के आचार का पालन करना राष्ट्र धर्म है।

(४) पाखड धर्म—पाखडी अर्थात् विविध सम्प्रदाय वालो के आचार-पालन पर हठ करना यह पाखंड-धर्म याने अधर्म है।

(५) कुल धर्म-उग्र कुल आदि कुलों के आचार तथा गच्छों के समूह रूप कुलो के आचार याने समाचारी का पालन।

(६) गण धर्म-गणों की व्यवस्था अथवा कुलों के समुदाय की समाचारी का पालन करना।

(७) सघ धर्म-साधु-साध्वी व श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ अथवा मानव कल्याण के उद्देश्य से स्थापित किसी भी सघ की व्यवस्था को स्वीकार कर उसका पालन करना।

(८) श्रुत धर्म—महापुरुषो की वाणी एवं शास्त्रों के वचनों का अनुगमन करना।

(९) चारित्र धर्म-सर्व प्रकार से जीवन मे विशुद्धि लाने के उद्देश्य से सदाचरण का निर्माण करना।

(१०) अस्तिकाय धर्म-अस्ति अर्थात् प्रदेशो की काय याने राशि को अस्तिकाय कहते हैं। काल के सिवाय छः में से पांच द्रव्य-जीव, आकाश, धर्म, अधर्म एवं पुद्गल अस्तिकाय कहलाते हैं जैसे धर्मास्तिकाय का स्वभाव जीव और पुद्गल को गति सहायता देना है।

इस प्रकार धर्म का चिन्तन करने का अभिप्राय है सभी प्रकार के कर्त्तव्यों का स्मरण ताकि जीवन की रचनात्मकता विस्तृत होती जाय।

ध्यान में रहे अपना धर्म –

आप सब अपने आपको मानव तो मानते हैं न ? मानव कहलाना एक बात है किन्तु मानव बनना कुछ दूसरी ही बात है। मानव को सच्चे रूप मे मानव बनने के लिये सदा अपने धर्म को ध्यान में रखना चाहिये। धर्म का चिन्तन भी हो तो धर्म से ही विकास लक्ष्य का सम्पादन भी। धर्म के धरातल पर आधारित होकर ही जीवन की विकास यात्रा सफल बन सकती है।

यो भी कह सकते हैं कि जीवन मे सबसे पहिले धर्म की धारणा

स्वस्थ एवं पुष्ट हो जाने के बाद सारी लौकिक एवं अलौकिक उपलब्धियां सुप्राप्य बन जाती है। सभी चिन्तको ने जीवन के प्रधान लक्ष्य माने हैं—धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष। यह ध्यान देने योग्य बात है कि धर्म और मोक्ष के बीच मे अर्थ और काम को स्थान दिया गया है। इसका क्या आशय है ?

जीवन मे जब धर्म याने कर्त्तव्यनिष्ठा का प्रवेश हो जायगा, तब अर्थ और काम की लालसा उतनी ही रह जायगी जिस से कि गृहस्थ धर्म का निर्वाह हो सके। अर्थ और काम सीमित और संयमित रह जाने से मानवीय मूल्यों की कोई क्षति नही होगी। अर्थ और काम के प्रति निरपेक्षता पुष्ट हो जाने के बाद धर्म गूढता एव क्रियात्मकता बढती ही जायगी जो साधक को एक दिन मोक्ष के द्वार पर खड़ा कर देगी।

किन्तु विकास यात्रा की यह गति तभी स्वस्थ रूप से प्रगतिशील बनी रहेगी जब अपने धर्म को आप सदा ध्यान मे रखेंगे।

ध्यान मे रखिये कि मात्र धर्म स्थान मे आ जाने से ही धर्म नही हो जाता है। यहां आकर सन्त मुनिराज जो कल्याणकारी वाणी सुनाते हैं उसे दत्तचित्त होकर सुनें और उसके श्रवण से जो जिज्ञासाएं उत्पन्न हो उनका सन्तोष कारक समाधान लें। ज्ञान की सुस्थिरता के बाद धर्म चिन्तन करें और पालन को जीवन के समग्र क्षेत्रों तक विस्तृत बनावें। धर्म स्थान को तो मुख्य रूप से धर्म विद्यालय समझ कर धर्मध्यान से अपने को स्मृद्ध बनावें ताकि आप मानव धर्म का निश्चल मति से अनुपालन कर सकें।

मनुष्य को अपना तन चलाने के लिये प्राथमिक रूप से तीन वस्तुओ की आवश्यकता रहती है—हवा, जल और अन्न। और शरीर निश्चय रूप से धर्म का साधन है अतः धर्म साधना के लिये शरीर सक्षम बना रहे उतनी मात्रा में निरवद्य रूप से इन तीनो वस्तुओ को उपयोग में लिया जावे, बाकी तृष्णा को जीवन में स्थान न दे तो मानव तन का सदुपयोग होगा तथा मानव जीवन का उच्चतम विकास साधा जा सकेगा।

अतः नित्य चिन्तन करें कि आत्मा को विभाव में गमन करने से किस प्रकार रोकें और किस प्रकार उसे अपने स्वभाव-धर्म मे स्थापित करें ? चिन्तन करें कि स्वभाव मे स्थापित करने वाले धर्म के वे बिन्दु याने कि कर्त्तव्य कौन कौन से होंगे जो समग्र मानव जाति और प्राणी समाज का हित सम्पादित कर सकेंगे ? स्वहित एवं सर्वहित रूप धर्म–समन्वय का भी चिन्तन करें। दि. २०-७-१९८६



गतिशील जीवन

यह जीवन गतिशील एवं क्रियाशील है—गमन करने की अवस्था वाला है। अतः वर्तमान जीवन को उसके गन्तव्य तक पहुंचाने का हमारा लक्ष्य होना चाहिये। गति और-स्थिरता ये दो स्थितिया होती हैं और यह जीवन कभी भी स्थिर नही रहता है—प्रतिक्षण गति करता ही रहता है।

जीवन की निरन्तर गतिशीलता के कारण मनुष्य के मन में एक विचार उत्पन्न होना चाहिये कि इस गतिशीलता का मेरे कृतित्व पर क्या प्रभाव हो। सामान्य बुद्धि से यह सोचा जा सकता है कि गति का सम्बन्ध शक्ति से रहता है इसलिये जिन लोगो मे पर्याप्त शक्ति रहेगी, वे ही गति कर पायेंगे, वरना शक्तिहीन लोग भला गति कैसे कर सकते हैं ? यह सोचना अपेक्षावर्ती है। क्योंकि सामान्यजन का विचार रहता है कि एक स्थान से उठकर दूसरे स्थान के लिये चलें-तभी गति होती है, नही तो वह स्थिरता ही कहलायगी। किन्तु समझने की बात यह है कि चलने को ही गति नही कहते और चलना केवल पैरों का ही नही होता है। पैर और शरीर तो चलते हुए दिखाई देते हैं लेकिन मन के विचार और भाव चलते हुए दिखाई नही देते पर प्रतिक्षण चलते रहते हैं। वृत्तियो एव सूक्ष्म प्रवृत्तियो की गति बड़ी सूक्ष्म होती है। इस गति का एकाग्र चित्त से अनुभव ही किया जा सकता है।

कैसे चलता है गति का क्रम ?

गति के क्रम में पहले स्थूल गति का रूपक ही समझ लें। एक व्यक्ति एक स्थान पर बैठा हुआ है तो क्या उसे एक लकडी के पाटे की तरह आप स्थिर मानेंगे ? ऐसा नहीं माना जाता है। मानें कि उसमे चलने की शक्ति नही है, फिर भी उसकी बिल्कुल शक्ति नष्ट नही होती है। एक मुनि है और उसमें लम्बी दूरी तक विहार करने की शक्ति नही होती है तो वह इर्दगिर्द ही घूमता है और कल्पना करें कि असाता वेदनीय कर्म के उदय मे उसे लकवा मार जाता है और उसका एक स्थान से उठकर पास के दूसरे स्थान तक भी चल पाना सम्भव नही रहता है तो क्या यह कहा जा सकता है कि वह गति करने मे अक्षम होने से स्थिर हो गया है ? यह कह सकते हैं कि उसके चलने की गति रुक गई है परन्तु उसका कोई भी अंग हिलता है या कि नेत्र भी हलन-चलन करते हैं तब भी उसे स्थिर नही कह सकेंगे।

यह तो हुई स्थूल गति की बात कि जब तक शरीर में सांस का आना-जाना है तब तक गति का क्रम अवरुद्ध नही होता है—चाहे वह चलना नाडी का ही हो। आप लोग भी किसी व्यक्ति की नाडी तक चलनी जब बन्द हो जाती है तब कह देते हैं कि वह मर गया है—उसमे जीवन नही रहा। क्योंकि आप यह मानते हैं कि जब तक जीवन रहेगा, तब तक शरीर मे कुछ न कुछ अंग-उपाग गति करता ही रहेगा यानी कि जीवन के अस्तित्व के साथ गति सदा जुडी हुई रहती है।

अब सूक्ष्म गति की बात सोचिये। यो शरीर की गति भी चलती रहती है और उससे भी कई गुनी तीव्र गति मन की चलती है। किन्तु शरीर जब निश्चेष्ट सा होता है तब भी मन की गति उतनी ही तीव्रता से चलती रहती है। निद्रा की अवस्था मे भी क्या मन की गति स्थिर होती है ? लकवे का मरीज शारीरिक स्थिति से बिल्कुल स्थिर दिखाई देता है तब भी कोई उसकी साता पूछने जाता है तो उसका मन अपनी बीमारी के बारे मे उथल-पुथल होता है और आंखों से आंसू निकल आते हैं। वह यह सोचकर बहुत दुखी होता

कि उसे लकवा मार गया है और वह तनिक भी हलन-चलन नहीं कर सकता है। वह भी भूल जाता है कि उसका मन तो पूरी तरह से गतिशील है।

गति के इस सम्पूर्ण क्रम को समझ लेने पर ही जीवन की गतिशीलता का अनुभव लिया जा सकता है। गति के अनुभव से एक प्रकार की स्फूर्ति बनी रहती है और कोई स्थिरता का आभास ले ले तो उसके भीतर एक प्रकार की शिथिलता व्याप्त हो जाती है। गति स्फूर्ति की प्रतीक होती है तो स्थिरता शिथिलता की प्रतीक। इस कारण गतिक्रम को भली प्रकार समझ लेने से जीवन को स्फूर्तिमय बनाये रखा जा सकता है—चाहे उसके समक्ष कैसी भी प्रतिकूल परिस्थितियां क्यो न पैदा हो जाय ? वह गति के स्थूल एव सूक्ष्म प्रकारो को भी समझ लेता है, अतः स्थूल गति रुक जाने के बावजूद वह सूक्ष्म गति में गतिशील रहता है तथा अपने जीवन मे तब भी समुचित मोड लानें से बाधित नही होता है।

गति से सदा स्फूर्ति-

कहा जाता है कि कई लोग ऐसा जीवन जीते हैं जिसमें गतिशीलता परिलक्षित नही होती तो वह जीवन भी मृत्यु के समान होता है। इसका अभिप्राय यह है कि जीवन मे गति का अनुभव नही लिया जाय तो वह स्फूर्तिहीन हो जाता है। दूसरी ओर अत्यन्त निश्चेष्ट अवस्था मे भी कोई अपने भीतर मे गति का जीवन्त अनुभव लेता रहे तो वह शिथिल नही होता और स्फूर्ति से भरापूरा रहकर जीवन की गतिशीलता का निर्वाह करता रहता है। निर्वाह ही क्या—उस अवस्था मे भी अपनें भावो की उग्र एवं उत्कृष्ट गति से वह अपना आत्मिक विकास साध लेता है।

गति के स्फूर्तिपूर्ण वेग को इस रूप में समझिये ! वह लकवे का मरीज जो अपनी स्थूल गति मे एकदम अशक्त हो गया है, मन के भावो मे अवश्य गति करता रहता है। उस गति मे भी अगर वह उस गति का अनुभव नही करे और स्थिरता के भाव से ही ग्रस्त बन जाय तो वह बुरी तरह से शिथिल हो जाता है—अपनी स्फूर्ति खो

देता है। इसके विपरीत वह अपनी स्थूल गति को भूल कर अपनी सूक्ष्म गति का भरपूर अनुभव लेने लग जाता है तो उसके भीतर शिथिलता के स्थान पर स्फूर्ति व्याप्त हो जाती है। तब वह उस अवस्था मे भी उत्साह से भरा-पूरा बना रहता है।

उस स्फूर्तिमय मनःस्थिति मे वह बाहर की परिस्थितियो से हताश नही होता बल्कि अपनी आतरिकता मे गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करना आरम्भ कर देता है। वह अपने पिछले जीवन की गति पर नजर डालता है और सोचता है कि उसने अपने ही भौतिक सुखो मे फसे रहकर कभी अपना हाथ परोपकार मे नही उठाया बल्कि वह उस हाथ से दूसरो को कष्ट ही पहुचाता रहा। उसका वह हाथ अब निश्चेष्ट हो गया है लेकिन अपने आतरिक पश्चाताप से अब भी वह अपनी भाव-धारा को विशुद्ध बना सकता है। उसके जीवन की गति-शीलता अब भी अवरुद्ध नही है। वह गहराई से विचार करता है कि जब उसकी शारीरिक शक्तियां पूरी तरह से सक्रिय थी तब तो उसने उनका स्वार्थ साधन और पर पीडन के रूप मे दुरुपयोग किया— जवानी को भी गुलछर्रों मे बरबाद कर दी फिर भी वह अब भी अपने पापो पर पछता कर हृदय की निर्मलता का अर्जन कर सकता है। वह यह भी सकल्प ले सकता है दु.ख के उन कठिन क्षणो मे कि अगर उसके लकवे की बीमारी ठीक हो जाय और वह पुन स्वस्थ बन जाय तो अपने जीवन का पूर्ण सदुपयोग करेगा।

इस प्रकार उन्नतिदायक चिन्तन उस अशक्त अवस्था मे भी तभी सभव बन सकता है जब वह अपने मन की स्फूर्ति को बनाये रखता है जिसको बनाये रखना मूलत· अपनी गतिशीलता का अनुभव कायम रखने पर ही हो सकता है। यदि वैसे समय मे भी उसके भावो की उत्कृष्ट श्रेणी प्रवाहित हो तो वह गूढ़ आत्मिक चिन्तन मे भी निमग्न हो सकता है। वह सोच सकता है कि पूरे जीवन मे जिस आत्म स्वरूप को नही समझ पाया, उसे अब समझ कर अपने जीवन को धन्य बना लू। तब अपने शाश्वत आत्मिक स्वरूप की अनुभूति लेते हुए वह परमात्म स्वरूप मे रमण करने की अपनी भावना बनाता है। और भीतर ही भीतर की गति से उस दशा मे भी अपने जीवन का रूपान्तरण कर लेता है।

गति की निरन्तरता मे आस्था रखते हुए अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर स्फूर्ति के साथ परिवर्तन या रूपान्तरण का कार्य सम्पन्न किया जा सकता है। स्थिरता का सोच ही शिथिलता ले आता है और उससे हो सकने वाला कार्य भी असम्भव हो जाता है। अतः यह मानकर चलिये कि गति का अनुभव सदा स्फूर्ति प्रदायक होता है और स्फूर्ति के रहते असम्भव से असम्भव कार्य भी असम्भव नही रहता।

मुख्य है गति की दिशा को समझना-

जीवन की गतिशीलता का अनुभव कर लेने के बाद समझ और विवेक का मुख्य कार्य होता है उस गति की दिशा को समझना तथा यदि गति पतनकारक दिशा मे चल रही है तो उसे वहा से मोड़ कर उन्नतिदायक दिशा मे आगे बढाना। तभी गति की सार्थकता बनती है। इस कारण गति की दिशा का ज्ञान एवं विश्लेषण अत्यन्त आवश्यक है।

एक विवेकी पुरुष विचार करेगा कि उसके जीवन की गति किस दिशा मे चल रही है? वह अपने शरीर, अपनी इन्द्रियो तथा अपने मन को प्रेय मार्ग पर चला रहा है अथवा श्रेय मार्ग पर? वह इन्द्रिय-सुखो मे रमण कर रहा है अथवा आत्म रमण के शाश्वत सुख मे? उस की वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो की गति उसे मानवीय मूल्यो से विभूषित वनाने की ओर चल रही है अथवा उसे हृदयहीन दानव वनाने की ओर? यह सब चिन्तन गति की दिशा जानने और पहिचानने के लिये जरूरी है।

इस चिन्तन की गहराई से उतरकर वह यह जान पाता है कि उसकी गति किस दिशा मे हो रही है! यदि उसका विवेक जागृत रहता है और उसकी गति प्रेय मार्ग पर हो रही हो तो वह सकल्प पूवक निश्चय करेगा कि उसकी गति प्रेय मार्ग से हटकर श्रेय मार्ग की ओर वढे। तव वह अपने निश्चय को क्रियान्वित भी करेगा। जीवन के रूपान्तरण का रहस्य इसी समस्त प्रक्रिया मे रहा हुआ है।

प्रेय मार्ग और श्रेय मार्ग-

मनुष्य जीवन के समक्ष गति करने के लिये दो ही मार्ग है- प्रेय मार्ग और श्रेय मार्ग । प्रेय मार्ग पौद्गलिक सुखो को पाने का मार्ग है तो श्रेय मार्ग हैआत्म-कल्याण एवं परमात्म पद प्राप्त करने का मार्ग । जीवन की गति इन दोनो मे से किसी न किसी मार्ग पर तो चलेगी ही । समीक्षा का विषय यही रहता है कि उस गति को प्रेय मार्ग से मोड़ कर श्रेय मार्ग पर किस विधि से अग्रसर बनाई जाय ?

पूर्व जन्मों की पुण्यवानी के सचय से यह मनुष्य जन्म मिला है और उसमे साधन-सुविधाएं भी प्राप्त हुई है । अब यदि मनुष्य इस जीवन की शक्तियों का सदुपयोग न करे और अपने आत्म-स्वरूप की अनुभूति लेने मे प्रयासरत न हो याने कि श्रेय मार्ग पर न चले तो क्या वह इन्द्रियो के भोगों में रमण करे और प्रेय मार्ग पर चले ? इन्द्रियो मे रमण तो पशु और पक्षी भी करते हैं क्योकि उनमे वह विवेक और ज्ञान प्राप्त नही होता है जो कि मनुष्य को प्राप्त है । फिर भी पशु और पक्षी अपना खाना खुद तलाशते है व अपना घोसला खुद बनाते हैं तथा अपनी सन्तान पैदा करके भी उन्हे चलने या उडने मे सक्षम बनाकर अपना काम विधिवत पूरा कर लेते हैं । किन्तु मनुष्य को समर्थ शरीर भी प्राप्त होता है तो मन और भावना का बल भी । तो क्या मनुष्य भी अपने खाने रहने और सन्तान पैदा करने के काम करके अपने समस्त कर्तव्यो की इतिश्री मान ले ? क्या मनुष्य उन पशु-पक्षियो से किसी भी रूप मे बढकर नही है ? यह गहराई से विचारने लायक हकीकत है ।

पशु-पक्षियो के सामने तो सामान्य रूप से एक ही मार्ग है लेकिन मनुष्य के सामने तो दो मार्ग होते हैं इन्द्रिय रमण का और आत्म रमण का । अगर वह मात्र इन्द्रिय रमण को ही अपने जीवन का उद्देश्य मान ले तो आत्म रमण के मार्ग को कौन खोजेगा ? श्रेय मार्ग की आराधना कौन करेगा ? अत यह कर्तव्य मनुष्य का ही माना जायगा कि वह श्रेय मार्ग का अनुसरण करे ।

मानव शरीर को संचालित करने वाली दो शक्तियां होती हैं- इन्द्रियां और आत्मा । इन इन्द्रियों की शक्ति और सुख प्रदायक वृत्ति

क्षणिक तथा नश्वर होती है। वहां आत्मा की शक्ति अनन्त और सुख प्रदायक वृत्ति शाश्वत तथा अनश्वर होती है। आत्म तत्त्व कभी नष्ट नही होता और शरीर को उसका वस्त्र मात्र माना गया है। आत्मा का स्वभाव है ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की उपासना। आत्मा जिस रूप मे क्रिया करती है, शरीर का सचालन उसी रूप मे होता है। आत्मा की गति को प्रमुखता दी जाय तो शरीर की भी वही गति बन जाती है और दोनों की गति की एकरूपता स्थापित हो जाती है। यह गति की एकरूपता जीवन के सच्चे विकास का मूल होती है।

यह एकरूप गति ही श्रेय मार्ग की होती है जो इहलोक को सुघढ बनाती है तो श्रेष्ठ परलोक का भी निर्माण करती है। जिसको मालूम हो जाता है कि अमुक स्थान पर खुला कुआ है तो वह उधर जाते हुए उस कुए में कभी नही गिरेगा। फिर अपनी गति को साध-कर चलने वाली आत्मा तो पग-पग पर सावधान रहेगी कि वह पापो के कुए मे न गिरे।

दूसरी ओर जिस आत्मा का अपने शरीर पर नियन्त्रण नही होता याने कि इन्द्रियां जिस आदमी को नचाती है, उसकी दशा एक शराबी जैसी हो जाती है। शराबी जानता है कि शराब पीने से उसको नशा आवेगा और उसकी दुर्दशा होगी फिर भी अपने को सम्हाल नही पाता है तथा शराब पीकर बेमान बन जाता है। दुर्योगवश वहा पर कुआ हो तो वह उस मे गिर कर अपने प्राण भी गुमा बैठता है। वह अपने परिवार को तो बरबाद करता ही है लेकिन अपने दुराचर की दुर्गन्ध भी चारो ओर फैला देता है। उडीसा की धरती पर जब मेरा विहार हुआ था तब धरती की सम्पदा को देखकर ऐसा अनुमान लगा था कि यहा के लोग सम्पन्न होगे किन्तु हकीकत यह दिखाई दी कि वहा की बहुसंख्यक जनता गरीब है और उसका एकमात्र कारण है शराब का सेवन। वे लोग बहुत परिश्रमी हैं लेकिन दारू का ठेकेदार उनके सारे परिश्रम को लूट लेता है। शराब के बाहरी नशे का भी ऐसा दुष्परिणाम होता है तो सोचिये कि प्रेय मार्ग के मोह मद से आत्मा की कितनी भीषण दुर्गती हो सकती है।

मोह-मय अति विनाशकारी है—

सभी लोग स्पष्ट रूप से मानते हैं कि शराब का सेवन अज्ञान के कारण से होता है। यदि प्रभावकारी ढंग से समझाया जाता है तो शराब की लत छुडाई भी जाती है। इसी प्रकार शराब से अनन्त गुनी बेमानी मोह मद से आती है जो निश्चय ही घोर अज्ञान का कारण होता है। मोह मद से ग्रस्त मनुष्य अपने स्थायी हिताहित भाव को भूल जाता है। मोहाविष्टता में भी भीतर से आत्मा की आवाज तो उठती है कि इसमें मत फंसो लेकिन प्रेय मार्ग पर भटक जाने के कारण मानव उस आवाज को अनसुनी कर देता है और विनाश व पतन के मार्ग पर लुढक जाता है।

मोह मद को सभी विचारकों ने अति विनाशकारी कहा है। मोहनीय कर्म की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि वह आत्मा की हित और अहित पहिचानने तथा तदनुसार आचरण करने की बुद्धि को मोहित (नष्ट) कर देता है। यह सम्मोहन दो प्रकार से होता है दर्शन शक्ति के विनाश से तथा चारित्र शक्ति के विनाश से। जो पदार्थ जैसा है उसे उस रूप मे समझना दर्शन है जो आत्मा का एक गुण होता है। मोह-मद से यह दर्शन-शक्ति मोहित हो जाती है। जिसके द्वारा आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करती है, वह चारित्र है। यह चारित्र शक्ति भी मोह—मद से मोहित हो जाती है। इस प्रकार मोह-मद के कुप्रभाव से मानव सत् असत के विवेक से रहित होकर परवश हो जाता है—अपने आत्म-स्वातन्त्र्य को खो देता है।

यह सब मन के नियंत्रण—अनियन्त्रण का प्रश्न है। मन ही मनुष्य को मोहाविष्ट बना कर प्रेय मार्ग पर धकेलता है तो मन ही उस मोह-मद को छुडवा कर श्रेय मार्ग के कल्याण की ओर उन्मुख बना देता है। कोई भी मार्ग हो, मनुष्य उस पर अपने मन से ही जाता है। मन को जांचना-परखना और उसे सुमार्ग पर नियोजित करना—यह मानव के पुरुषार्थ का विषय है। किन्तु मानव इस पुरुषार्थ में कितने मन और कितनी लगन से लगता है—यह भी जाचने-परखने का विषय है। आज की गतिविधियों को देखकर ऐसा लगता है कि आप सब व्याख्यान श्रवण करते है एव प्रतिक्रमण और स्वाध्याय भी

करते हैं। फिर सब के बारे में क्या समझ लिया जाय कि भीतर में रहा हुआ सबका मन जागृत है ? जागृत है श्रेय मार्ग पर गति करने के लिये अथवा प्रेय मार्ग के मोह मे ही सुशुप्त है ? व्याख्यान के शब्द कान तक पहुच कर ही रुक जाते हैं या हृदय मे भी उतरते हैं ? क्या महावीर-वाणी श्रवण करके आपकी चिन्तन मे प्रवृत्ति होती है अथवा वह वाणी नींद के झकोलो मे गुम हो जाती है ? ध्यान रखिये—ये निद्रा और अज्ञान मोह के ही सैनिक हैं। ये आपको अपनी गिरफ्त में लेकर मोह के कारागार मे ही पहुंचा देते हैं। मोह के कारागार से मुक्ति एक कठिन सघर्ष के बाद ही सम्भव होती है।

अस्थिर जीवन में स्थिर गति कैसे हो ?

मानव जीवन इतना छोटा और अस्थिर होता है कि यदि इसमे अपने विकास को स्थिर गति नही साधी जाय तो सारा जीवन निरर्थक हो जाता है। प्रेय मार्ग की भूलभूलैया मे फस कर गति भी अस्थिर रहे तो उसमें से बाहर निकल पाना ही दुस्साध्य हो जाता है। इस कारण जब तक मनोयोगपूर्वक रूपान्तरण की प्रक्रिया प्रारम्भ नही करें तब तक न तो गति को स्थिर बना सकते हैं और न ही प्राप्त दुर्लभ मानव जीवन को सार्थकता प्रदान कर सकते हैं।

इस जीवन की अस्थिरता के विषय में ज्ञानीजन ने कहा है कि जैसे वृक्ष का पीला पत्ता कुछ दिन निकाल कर डाली से शिथिल हो कर नीचे गिर पडता है उसी प्रकार यह मानव जीवन भी है जिसमे यौवन और आयु अस्थिर है। जैसे कुशा की नोक पर रही हुई ओस की जल बिन्दु थोडे समय तक अस्थिर रह कर गिर पडती है वैसे ही यह जीवन क्षणिक और नश्वर है। जीवन टूट जाने पर फिर से नही जोड़ा जा सकता है, फिर भी अज्ञान मे पड़े हुए लोग पापाचरण करते हुए लज्जित नही होते। इस प्रकार की इस जीवन की अस्थिरता से सावचेत होने की आवश्यकता है ताकि श्रेय मार्ग पर स्थिर गति से अपने चरण आगे बढाकर जीवन के पूर्ण विकास को स्थिर बनाया जा सके। इस दृष्टि से प्रभु महावीर ने उद्बोधन दिया कि इस जीवन में क्षण भर के लिये भी प्रमाद (आलस्य) करने का अवसर नही है। इस जीवन की अवधि का कोई निश्चय नही है, कभी भी मृत्यु आ

सकती हैं—इस सत्य को न समझ कर जीवन को शाश्वत समझ कर चलने वाले अज्ञानी लोग कहते हैं कि धर्म की आराधना तो फिर कभी कर लेंगे—अभी धर्म करने की आयु थोडे ही है। ऐसे लोग न पहले ही धर्म की आराधना कर पाते हैं और न बाद में ही। यों कहते-२ और प्रेय मार्ग पर भटकते-२ ही उनकी आयु पूरी हो जाती है और काल आकर सामने खड़ा हो जाता है तब अन्त समय मे केवल पश्चात्ताप ही उनके हाथ रह जाता है।

ज्ञानीजन इसी दशा को दृष्टि मे रख कर मोह तथा अज्ञान के अंधकार मे पड़े हुए लोगो को सावधान करते हुए कहते हैं कि इस संसार मे अपना जीवन ही देखो जो प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है। कभी यह तरुण अवस्था मे ही समाप्त हो जाता है और कभी शतायु होने पर। किन्तु यह विनश्वर है—स्थिर नही। अतः क्षुद्र व्यक्ति ही विषय भोग में आसक्त एव मूर्छित रहते हैं। यह मेरा है, यह मेरा नही है, यह मुझे सेवन करना चाहिये और यह मुझे सेवन नही करना है—ऐसा कहते-कहते ही आयु समाप्त हो जाती है और प्रमाद छूटता नही है। अतः जीवन की अस्थिरता पर गहराई से सोचते हुए उसे गतिशील बनाया जाना चाहिये—ऐसी सुस्थिर गति से कि वह प्रतिकूल परिस्थितियो मे भी चलायमान न हो तथा ज्ञान एवं क्रिया की ऊंची श्रेणियो मे निरन्तर आगे से आगे बढता ही चला जाय।

स्थिर गति की उपलब्धि हो सकेगी स्थिर चित्तवृत्ति से और स्थिर चित्तवृत्ति का निर्माण होता है ज्ञान एवं विवेक के प्रभाव में। जीवन का रूपान्तरण इसी स्थिति पर आधारित होता है। प्रेय मार्ग से हटकर श्रेय मार्ग पर चलने का पराक्रम इसी रूप मे जागृत बनता है। श्रेय मार्ग पर जब गति स्थिर बन जाती है तो फिर उस जीवन की गतिशीलता वर्षों का विकास क्रम क्षणो मे सम्पादित कर लेती है।

ज्ञान का प्रकाश: आचरण की गति—

जीवन के स्थिर त्वरित एवं पूर्ण विकास रूपी रथ के दो पहिये हैं—ज्ञान का प्रकाश और आचरण की गति। ज्ञान एवं क्रिया के सुसयोग को ही मोक्ष का मार्ग कहा गया है। जीवन की गतिशीलता भी इसी सुसयोग मे निहित होती है।

आचरण का क्रम ज्ञान के बाद इसी कारण रखा गया है कि अज्ञानी लोगो की सारी क्रियाएं अधर्म के समान होती है । धर्म क्या है और किन क्रियाओ मे है—जब तक यही ज्ञान प्राप्त नही किया जा सका है तब तक वे क्रियाए भला धर्म का साधन कैसे बन सकती है? अतः पहले ज्ञान प्राप्त होना चाहिये और उस सम्यक् ज्ञान के प्रकाश मे ही आचरण के कदम उठने चाहिये ।

समझिये कि पाव चलने की क्रिया कर रहे हैं किन्तु इसके पूर्व यह नही जाना जाय कि पाव कहा और किस दिशा में चल रहे हैं तो क्या अनुमान लगाया जा सकता है कि पांवों की वह उद्देश्यहीन और अज्ञानी चाल उन्हे कहां पहुचायगी ? पाव चल तो रहे हैं लेकिन रास्ते से भटक कर बीहड मे चल रहे हैं या घानी के बैल के पांवों की तरह एक ही चक्कर मे घूम रहे हैं तो क्या उन पांवों के अपने गन्तव्य तक पहुचने की सम्भावना मानी जा सकती है ? सही बात तो यह है कि पावो को चलने के लिये उठाने से पहिले ही अपनी स्थिती को जान व जांच लेना जरूरी है । जहा हम खडे है और जहां से हम पाव उठाकर चलना चाहते हैं, वहां कोई मार्ग भी है या नहीं? और अगर मार्ग है भी तो वह मार्ग हमे कहां पहुचायेगा—इसकी पक्की पहिचान पहिले ही हो जानी चाहिये । इतना सब कुछ पक्के तौर पर जान लेने के बाद जो पावो को आगे बढाता है तथा अपनी गति को स्थिर बनाकर चलता है, वह अवश्य अपने गन्तव्य तक पहुच जाने की आशा रख सकता है । इसे ही ज्ञान एव आचरण का सुसंयोग कहा जाता है ।

गतिशीलता से प्रगतिशीलता-

ऐसे सुसयोग को जो विवेकवान् एवं पराक्रमी पुरुष साध लेता है, वह अपने जीवन की गतिशीलता को भी प्रगतिशीलता में परिवर्तित कर सकता है । इस अस्थिर जीवन मे त्वरित विकास के लिये गति से बढ़कर प्रगति की आवश्यकता है । स्थिर एव त्वरित गति को प्रगति कह लीजिये, जिसके साथ प्रबुद्धता का विशिष्ट सबंध हो जाता है ।

आत्मा का मूल स्वभाव रूपी धर्म इस प्रगतिशीलता का साध्य है तो धर्म नाम से ज्ञानमय आचरण की वे क्रियाएं भी जानी जाती हैं जो इस मानव जीवन को उसके साध्य तक पहुचाती हैं। इन प्रकारान्तर से धर्म साध्य भी है और साधन भी है धार्मिक क्रियाओं की साधना करते समय ऐसी सतर्कता रहनी चाहिये कि जो क्रियाएं जिस रूप में की जा रही है, उनसे साध्य की भली प्रकार साधना हो रही है अथवा नही। ऐसा तो नहीं हो रहा है कि साध्य एक दिशा मे है और की जाने वाली क्रियाएं जीवन को विपरीत दिशा मे ले जा रही है। गति की स्थिरता के साथ दिशा का बोध भी हर समय बराबर बना रहना चाहिये। आत्म-स्वरूप की पहिचान जो कर लेता है, वह गति एवं दिशा को बराबर सयुक्त बनाये हुए ही चलता है। यही साध्य एव साधन की सयुक्तता होती है।

साधक धार्मिक क्रियाओ मे प्रवृत्त होते समय यह जागृति निरन्तर बनाये रखे कि उनकी साधना अपने ही मूल स्वभाव को प्राप्त करने मे लगी हुई है। कई भोले साधक धार्मिकता को सासारिकता से रंग देते हैं। जैसे तपस्या करते समय कोई श्रावक-श्राविका यह धारे कि यदि तपस्या का कोई फल मिले तो उसे सन्तान, धन या पद प्राप्ति के रूप मे मिले। उसकी ऐसी धारणा उस तपस्या रूप धर्माचरण को भी पाप पूर्ण बना देगी। एक घोड़ा दो दिशाओ में एक साथ नही चल सकता है, उसी प्रकार साधक भी प्रेय और श्रेय दोनो मार्गों पर एक साथ नही चल सकेगा। ऐसा प्रयास उसे पथभ्रष्ट ही बनायगा। अत. श्रेय मार्ग पर चलते हुए साधक को अपने साध्य की प्राप्ति के लिये साधन-शुद्धता का पूरा ध्यान रखना होगा। धार्मिक क्रियाओ का फल अपने ही जीवन के रूपान्तरण के रूप मे प्रकट होता है, आत्म-स्वरूप की अनुभूति के रूप मे प्रतिफलित होता है तथा मुक्ति प्राप्ति के रूप मे सम्पूरित होता है।

दि. २१-६-१९८६

प्रक्रिया शरीरो की

श्री श्रेयास जिन अन्तर्यामी…………

श्री श्रेयास भगवान की प्रार्थना के प्रसंग से हमे चिन्तन करना है कि तीर्थंकर देवो द्वारा बताए हुए मोक्ष मार्ग के साधनामय धर्म को कैसे अपने अन्त:करण मे व्यक्त करें तथा कैसे उसे अपने समग्र आचरण मे उतारें ?

वर्तमान में इस आत्मा के पास जो मानव शरीर दिखाई दे रहा है, वह ऊपरी दृष्टि से तो एक ही दीख रहा है, लेकिन तीर्थंकर देवो ने इस एक शरीर के साथ दो और शरीर सयुक्त बताये हैं। वस्तुत प्रत्येक संसारी आत्मा के साथ प्रत्येक समय में एक साथ तीन शरीर जुडे हुए रहते है। मनुष्य आदि के औदारिक शरीर के साथ तेजस और कामरिग शरीर संयुक्त रहते है तो देवो आदि के वैक्रिय शरीर के साथ भी तेजस और कामणि शरीर संयुक्त रहते हैं।

शरीर के भेद और स्वरूप

आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध ही उसके सांसारिक स्वरूप का प्रतीक होता है। यह आत्मा संसार मे परिभ्रमण करते हुए

ही विविध शरीर धारण करती रहती है और जब यही सिद्ध अवस्था मे पहुच जाती है तब अशरीरी हो जाती है। शरीर को इसी कारण आत्मा के लिये बन्धन स्वरूप माना गया है और देह मुक्ति को आत्मा का चरम लक्ष्य बताया गया है।

इसी दृष्टि से आत्मा का स्वरूप शाश्वत और अनश्वर माना गया है तो शरीर का स्वरूप क्षणिक और नश्वर। शरीर उसे कहा गया है जो अपने उत्पत्ति-समय से लेकर प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण होता रहता है और एक दिन वर्तमान जीवन के चोले मे समाप्त हो जाता है। विशिष्ट शरीर की आत्मा को प्राप्ति उस प्रकार के शरीर नाम कर्म के उदय से होती है।

शरीर पाच प्रकार के बताये गये है—

(१) औदारिक शरीर-उदार अर्थात् मुख्य रूप से स्थूल पुद्गलों के सयोग से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है। ये स्थूल पुद्गल प्रधान भी होते है तो असार भी होते हैं। तीर्थंकरो, गणधरो आदि विशिष्ट पुरुषों का शरीर प्रधान पुद्गलो से निर्मित होता है, वहां सामान्य मनुष्यो का शरीर असार पुद्गलो से। इस शरीर का औदारिक नाम इस कारण से भी है कि यह अन्य शरीरो की अपेक्षा अवस्थित रूप से विशाल यानी बडे आकार-प्रकार का होता है। ज्ञानी जन ने बताया है कि वनस्पति काय की अपेक्षा औदारिक शरीर की एक सहस्त्र योजन की अवस्थित अवगाहना है अन्य सभी शरीरों की अवस्थित अवगाहना इससे कम है। वैक्रिय शरीर की उत्तर वैक्रिय की अपेक्षा अनवस्थित अवगाहना लाख योजन की है परन्तु भवधारणीय वैक्रिय शरीर की अवगाहना तो पाच सौ धनुष से ज्यादा नही है।

औदारिक शरीर अन्य शरीरो की अपेक्षा अल्प प्रदेश वाला तथा परिमाण मे बड़ा होता है। यह शरीर मास, रुधिर, हड्डी आदि से बना हुआ होता है और मनुष्य व तिर्यंच की योनि धारक आत्माओं को प्राप्त होता है।

(२) वैक्रिय शरीर-वैक्रिय शरीर उसे कहते हैं जिसके द्वारा विशिष्ट एव विविध प्रकार की क्रियाएं होती हैं। जैसे एक रूप होकर

अनेक रूप धारण कर लेना, छोटे शरीर से बडा शरीर बना लेना और बडे शरीर मे छोटा शरीर बना देना, पृथ्वी पर चलने योग्य शरीर का रूप आकाश मे चलने योग्य बना लेना अथवा दृश्य-अदृश्य रूप बना लेना आदि ।

ऐसा वैक्रिय शरीर दो प्रकार का होता है:—(अ) औपपातिक वैक्रिय शरीर जो जन्म से ही मिलता है । यह वैक्रिय शरीर देवता एवं नारकीयो को जन्म से ही प्राप्त होता है । (ब) लब्धि प्रत्यय वैक्रिय शरीर-यह तप आदि द्वारा प्राप्त लब्धि विशेष से मिलता है । यह लब्धि प्रत्यय वैक्रिय शरीर मनुष्य एवं तिर्यंच योनियो मे प्राप्त हो सकता है ।

(३) आहारक शरीर लब्धि विशेष से अत्यन्त विशुद्ध स्फटिक के समान एक हाथ का जो पुतला चौदह पूर्वधारी मुनिराज निकालते हैं वह आहारक शरीर कहलाता है । यह पुतला चौदह पूर्वो के ज्ञाता मुनि प्राणियो की दया तीर्थंकर भगवान् की ऋद्धि के दर्शन किसी प्रकार के सशय का निवारण आदि प्रयोजनो से महाविदेह आदि अन्य क्षेत्रो मे विराजमान तीर्थंकर के समीप भेजने के लिये निकालते है । सम्बन्धित प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर वे मुनिराज उस आहारक शरीर का त्याग कर देते हैं ।

(४) तैजस शरीर–तेज स्वरूपी पुद्गलो से बना हुआ शरीर तैजस शरीर कहलाता है । यह सभी प्राणियो के शरीर मे विद्यमान रहता है तथा अपनी ऊष्णता से अपने अस्तित्व का भान कराता रहता है । इस शरीर के होने की वजह से ही भोजन का पाचन होता है। किसी विशिष्ट तपस्या के प्रभाव से प्राप्त तैजस लब्धि का कारण भी यही शरीर होता है ।

(५) कार्माण शरीर–कार्माण शरीर की रचना आत्म स्वरूप के साथ संलग्न कर्म प्रदेशों से होती है । जीव प्रदेशो के साथ लगे हुए आठ प्रकार के कर्म पुद्गलो को कार्माण शरीर कहते हैं । यह शरीर ही सभी शरीरों का मूल है क्योकि विशेष प्रकार के कर्मबंधन के कारण ही शरीर विशेष की प्राप्ति होती है और जब कार्माण

शरीर की समाप्ति हो जाती है तो आत्मा भी शरीर-बन्धन से मुक्त बन जाती है ।

पांचो शरीरो का जो उपरोक्त क्रम निर्धारित है, वह इस तथ्य पर आधारित है कि आगे-आगे के शरीर पिछले की अपेक्षा अधिक प्रदेश वाले किन्तु परिमाण में सूक्ष्मतर है । इन पाच शरीरो मे से पिछले दो तैजस और कार्माण शरीर सभी संसारी आत्माओ के होते हैं । इन दोनो शरीरों के साथ ही आत्मा एक शरीर के चोले से निकल कर दूसरे शरीर में उत्पन्न होती है ।

शरीर की प्रक्रियाए

साधारणतया तीन शरीरो की सयुक्तता होने पर भी एक शरीर की क्रियाए ही परिलक्षित होती है । किन्तु एक आत्मा के साथ जुडे हुए तीनों शरीर अपनी-अपनी क्रियाए यथावत् रीति से करते रहते हैं । इन मे से दो शरीर तैजस और कार्माण की क्रियाए सामान्य जन की जानकारी मे नही आती है । वे यह भी नही जान पाते हैं कि इन मे से किस शरीर की क्रियाएं किस रूप मे कार्यरत रहती हैं ।

औदारिक शरीर का कार्य तो चलने, फिरने खाने, पीने, सुनने, बोलने आदि की क्रियाओं के रूप मे स्पष्टत. सबको प्रतीत होता है, लेकिन इस शरीर का समग्र व्यवहार वर्तन आदि केवल इस दिखाई देने वाले शरीर के सहारे से ही नही चलता । साथ मे संयुक्त भीतर के दोनो शरीर जब सक्रिय रहते है तब ऊपर का यह प्रत्यक्ष शरीर भी ठीक तरह से कार्य करता हुआ दिखाई देता है । भीतर में जो तैजस शरीर रहता है, वह इस औदारिक शरीर को तन्दुरुस्त रखने वाला है । तैजस शरीर के माध्यम से ही इस शरीर का निर्माण भी होता है तो नियमित रूप से सचालन भी । खाये हुए भोजन की पाचन क्रिया को सफल बनाने वाला यही तैजस शरीर होता है । शरीर के प्रत्येक अ गोपाग मे तैजस शरीर ही रस पहुचाता है और उसे तेजयुक्त बनाये रखता है ।

एक बालक जब अपनी माता के गर्भ से बाहर आता है, तब सिर्फ माता का ही दूध ग्रहण करता हैं । वह दूध ही जब बालक के

उदर मे पहुचाता है तब उसके बाद उसका रस बनता है और उस रस को आवश्यकतानुसार किस अवयव को अथवा किस कोशिका को कितनी मात्रा मे पहुंचाया जाना चाहिये–यह सारा कार्य तैजस शरीर करता है। तैजस शरीर की सुव्यवस्थित कार्यप्रणाली से ही शरीर का तापमान स्वास्थ्य के अनुकूल बना रहता है।

आप जानते हैं कि जब किसी मरीज को डॉक्टर के पास दिखाने के लिये ले जाते हैं तब सबसे पहिले वह उस मरीज के शरीर का तापमान लेता है। जब उसे मालूम हो जाता है कि उसके शरीर का तापमान ९८/९८.४ डिग्री है तो वह जान लेता है कि वह नार्मल टेम्परेचर उस शरीर की सही तन्दुरुस्ती का सूचक है। जब टेम्परेचर ज्यादा बढता है तो वह सोचता है कि शरीर मे गर्मी ज्यादा बढ गई है और जब टेम्परेचर कम हो जाता है तो उससे विदित होता है कि शरीर मे गर्मी सामान्य बिन्दु से भी कम हो गई है। तब तदनुरूप औषधि लेने का वह निर्देश देता है तापमान का सामान्य अथवा असामान्य क्रम तैजस शरीर की प्रक्रियाओ पर निर्भर करता है।

तैजस शरीर के कार्य

इस रूप मे मानव तैजस शरीर के कार्य का अनुभव तो करता है लेकिन उस शरीर को प्रत्यक्षत देख नही पाता है। वह घटित होने वाली कार्य प्रणाली से इन प्रक्रियाओ का अनुमान तो लगा लेता है परन्तु यह नही जान पाता है कि ये समस्त प्रक्रियाएं क्यो हो रही है तथा किसके द्वारा हो रही है ?

इसको समझने के लिये घडी का दृष्टान्त ले। घडी का टंकोरा जब बजता है तो आप टकोरे की आवाजो को गिनकर अधेरे मे भी जान लेते है कि कितने बज गये हैं यानी कि क्या समय हो रहा है। जिस घडी मे टकोरे नही बजते, उसमे काटो की गति व स्थिति देखकर समय की जानकारी ले लेते हैं। यह जानकारी कैसे लेते है ? बाहर से दो काटे दिखाई देते हैं जो डायल की गोलाई मे घूमते रहते है और अमुक अक पर घूमते हुए अमुक समय का सकेत देते हैं। लेकिन वे बाहर के काटे किसके सहारे घूमते है ? भीतर मे

जो मशीन रहती है, वे उसी के सहारे घूमते हैं न ? वैसे ही इस शरीर रूपी घडी मे आंखें ठीक काम कर रही है, कान ठीक से सुन रहे हैं या जीभ को स्वाद का अनुभव ठीक प्रक्रियाओ के कारण होता है। इस अनुभव की पुष्टि के लिये आप सोचिये कि जब लम्बी तपस्या की आराधना की जाती है तब शरीर की शक्ति मन्द पड जाने से बोली आदि बाहर की शक्तिया भी कुछ मन्द हो जाती है। (इसमे अपवाद भी होते हैं आप अमर मुनिजी को जानते हैं जो माह दो माह तक की तपस्याएं करते रहते हैं। २०-२५ दिन के उपवास तक तो वे लम्बा विहार भी कर लेते हैं तो ५० दिन की तपस्या तक व्याख्यान भी देते हैं व अपना सारा कार्य भी करते हैं जबकि सामान्य व्यक्ति २–४ दिन के उपवास मे भारी अशक्ति का अनुभव करने लग जाता है।) तो यह सब तैजस शरीर की तदनुसार प्रक्रियाओ के प्रभाव से होता है। यदि तैजस शरीर कार्य नही कर पाता है तो बाहरी शरीर सुस्त पड जाता है। और उस तैजस शरीर को उसकी खुराक नही मिलती है तो वह क्या करे ? उसको उसकी खुराक बराबर मिले तो वह उसका पाचन करके उससे निर्मित रस को इस शरीर के सभी भागो मे यथायोग्य रीति से पहुचा कर उसकी सामान्य शक्ति को बनाये रख सकता है।

महालेखाकार कार्मण शरीर

कभी-कभी प्रश्न सामने आता है कि जब हम कोई शुभ अथवा अशुभ कार्य करते है तो उसका हिसाब-किताब कौन रखता है ताकि उन कार्यों के अनुसार उसका यथासमय फल प्राप्त हो ? फिर हमे सुख अथवा दु:ख फल रूप कैसे मिलता है ? जैसे न्यायाधीश किसी के कार्यों के बारे मे अपना निर्णय देता है या दण्ड विधान करता है, वैसे ही हमारे सुख–दु:ख रूप फल का विधान करने वाला क्या कोई अतिरिक्त न्यायाधीश है ?

जिस प्रकार सारा संसार एक निश्चित एव सुघड़ व्यवस्था के आधार पर सचालित होता है, उसी प्रकार हमारे इस शरीर के अन्दर भी निश्चित एवं सुघड़ व्यवस्था रही हुई है। कहा भी है— यत्पिडे, तद् ब्रह्माण्डे, यद् ब्रह्माण्डे तत्पिंडे। इस शरीर की व्यवस्था ही

एक प्रकार से सारे ससार में व्याप्त है । जो व्यवस्था हमारे शरीर अन्दर मे हैं, उसे ही देख लीजिये । मनुष्य द्वारा रचित बाहर की व्यवस्था मे तो विलम्ब हो सकता है, पक्षपात हो सकता है या अन्याय भी हो सकता है लेकिन शरीर की अन्दरुनी व्यवस्था मे ऐसा कुछ भी सम्भव नही है । व्यवस्था का सम्पूर्ण क्रम इस रूप में स्वचालित होता है कि उसमे किसी के हस्तक्षेप का अवसर ही नही है ।

अभी आप व्याख्यान सुन रहे हैं । आपके मन की गति मेरी तरफ होगी । इस समय आपके शरीर के किसी भाग पर कोई मच्छर बैठ जाय तो तत्क्षण आपका उपयोग उधर काम नही करेगा । पर आपका हाथ स्वत ही उस ओर चला जायगा फिर आपको मच्छर का ध्यान आयगा । इस प्रकार आपके हमारे कार्यों का लेखा-जोखा भी हमारे भीतर होता रहता है । इस औदारिक शरीर के साथ तैजस एवं कार्माण शरीरो की प्रक्रियाओ से ही निरन्तर व्यवस्था का क्रम चलता रहता है ।

आप दूध पीते हैं—उसमे कौन-कौन से विटामिन हैं ? किस विटामिन की शरीर के किस अवयव को कितनी आवश्यकता है ? आख को, कान को या कि आख की कीकी को कितना विटामिन चाहिये ? क्या यह सब आपको ज्ञात है ? जब आप कमजोरी महसूस करते हैं और फिर जब भोजन कर लेते है और उसका जो रस बनता है, वह किस अग के कैसे विटामिन की पूर्ति करता है— क्या यह भी आप जानते है ? कुछ बातें बाहर की पुस्तको से जान भी लेते हो तो क्या आप यह भी जानते हैं कि किस समय किस अग के प्रति कैसी प्रक्रिया चल रही है और किस अंग को किस प्रकार का रस पहुच रहा है ? ये सब रासायनिक प्रक्रियाए स्वत. ही अन्दर होती रहती है । आख, कान, हाथ, पैर आदि को कितना व कैसा रस चाहिये, उसकी पूर्ति का सारा कार्य अन्दर ही अन्दर चलता रहता है ।

यह कार्य तैजस शरीर करता है तो इस सारे कार्य का लेखा-जोखा कार्माण शरीर रखता है और उस लेखे-जोखे को हमे भुगताता भी कार्माण शरीर ही है । तीनो शरीर सयुक्त रहकर सारे व्यवस्था क्रम को इस प्रकार चलाते हैं कि वह क्रम एक मालूम होता है ।

व्यवस्था के साथ हिसाब व भुगतान दोनों

समझें कि एक रोगी है। उसे तीन-चार प्रकार के रोग एक साथ हो गये हैं—सर्दी, खासी, बुखार, टाईफाईड, निमोनिया आदि। डॉक्टर ने रोगी की जांच करके गोलिया दे दी। सभी रोगो की अलग अलग गोलिया दी और वे रोगी द्वारा खा लेने के वाद एक साथ पेट मे पहुंच गई। फिर तैजस शरीर का व्यवस्था क्रम होता है कि एक घोल बनी हुई गोलिया भी अपना अलग-अलग प्रभाव सम्बन्धित रोग पर छोडती है और उस बीमारी मे सुधार के लक्षण दिखाई देते हैं।

किन्तु उस समय मे कार्माण शरीर का व्यवस्था क्रम भी चलता है। सम्बन्धित गोली से उस बीमारी मे सुधार आना चाहिये, लेकिन उस सुधार को कार्माण शरीर रोक देता है। समझे कि उस रोगी के कर्म पुज मे कोई ऐसा कर्म है जिसका फल लम्बे रोग दु:ख मे मिलना है तो वह रोग बढेगा, दवा बेअसर रहेगी और कर्म के हिसाब का पूरा भुगतान होने पर उसमे सुधार दिखाई देगा। यह सब जो होता है, वह तो बाहर समझ मे आता है लेकिन क्यो होता है, किस प्रकार होता है तथा किसके प्रभाव से किस समय मे किस रूप मे होता है- ये बाहर की समझ के बाहर की बाते हैं।

कार्माण शरीर एक प्रकार से कर्मों का पिटारा है जिसमे कर्म पुज भी हैं तो उन कर्मों के भुगतान का हिसाब-किताब और भुगतान की व्यवस्था भी है। कर्म स्वत ही समयानुसार अपना फलाफल प्रदान करते हैं। कार्माण शरीर की व्यवस्था के कारण ही मनुष्य पुण्य कर्मो के उदय से सुखी तथा पाप कर्मों के उदय से दुखी बनता है। इन तैजस व कार्माण शरीरो की व्यवस्था के माध्यम से यह औदारिक शरीर सारे प्रभावो को बाहर प्रकट करता है। किन्तु इन सब शरीरो की धारक चैतन्य आत्मा ही सभी प्रकार से कर्त्ता और भोक्ता होती है।

कर्म बन्धन और उसके फल की प्राप्ति का कार्य भी इस व्यवस्था क्रम के अन्तर्गत स्वत हो चलता रहता है। कोई अपनी इच्छा से मिर्च का बीज खाएगा तो मुह जलेगा-चरका होगा। यह चरकास पैदा करने वाला कोई बाहर से नही आया। उसे वनस्पति

के जीव ने पैदा की जिसके भी उक्त तीनो शरीर होते हैं। इसके विपरीत किसी ने शक्कर खाई तो उसके मुंह मे मिठास घुल जायगी। इस प्रकार इस आत्मा के द्वारा ही जैसा कार्य किया जाता है, उस के अनुसार तीनो शरीरो के व्यवस्था क्रम के माध्यम से सुखमय अथवा दु.खमय फल मिलता है। कार्य के अनुसार कर्म वन्धन होता है और वे कर्म कार्माण शरीर के रूप मे आत्मस्वरूप के साथ सलग्न रहते हैं जो समय आने पर अपना फलाफल प्रकट करते हैं। इस फलाफल की भोक्ता आत्मा ही होती है। लेकिन वास्तविक ज्ञान के अभाव मे जब अशुभ फल प्रकट होता है तो मनुष्य दुःख के मारे रोता-चिल्लाता है, क्योकि वह यह नही समझता कि इन काटो के बीज उसी ने उगाये थे। जब उसे शुभ कर्मों उदय मे सुख-सुविधाएं मिलती है, वह इनमें मोहित बनकर हृदयहीन व्यवहार करने लग जाता है। तब भी वह यह नही समझता कि जो कुछ सुखदायक साधन उसे मिले हैं वे उसे शुभ कर्मों के फलस्वरूप मिले है अत. उसे सुख ही चाहिये तो ये अशुभ कार्य नही करने होगे। अशुभ या शुभ भावो के साथ की जाने वाली क्रियाओ से पाप या पुण्य कर्मों का बन्ध होता है तथा उन कर्मों के उदय मे आने पर दु ख या सुख का अनुभव किया जाता है।

दुःख या सुख हमारे ही हाथ

हमे सुख मिले या दु.ख मिले-यह हमारे ही हाथ मे होता है। सदा शुभ भावना रखते है और शुभ कार्य करते हैं तो पुण्य कर्म का बध होगा जिसके उदय में आने पर सुख ही मिलेगा। इसके विपरीत हम अपनी बेमानी मे अशुभ भावनाएं रखे और अशुभ कार्य करें तो पाप कर्म का बध होगा जिसके फलस्वरूप दु ख ही दु ख मिलेगा। इस रूप मे कर्म करना हमारे ही हाथ मे होता है, लेकिन कर्म कर लेने के बाद उसके फल को रोक लेने की हमारी कोई ताकत नही होती--हमारी क्या, किसी की भी कोई ताकत नही होती। हा, उन कर्मो को गालने का पुरुषार्थ हम ही कर सकते हैं किन्तु किसी न किसी रूप में कर्मों का फल अवश्यभावी होता है।

प्रश्न पैदा होता है कि हम पुण्य कर्म का उपार्जन कैसे करे? पाप कर्मों का बध कैसे होता है ? ज्ञान और विवेक के अभाव मे यह

मनुष्य पाप कार्य तो हर समय करता ही रहता है। परन्तु अपनी ऐसी असद् प्रवृत्ति को पहिचान कर मनुष्य को पुंण्यार्जन का पुरुषार्थ करना चाहिये, क्योंकि पुण्य कर्मों के फल से ऐसे साधन प्राप्त हो सकते हैं जिनके सम्बल से जीवन का श्रेष्ठतम विकास साधा जा सके। इस पुण्य कर्म के उपार्जन के नौ शुभ कार्यों का उल्लेख किया गया है जो निम्न हैं:–

(१) अन्न पुण्य–पात्र को अन्न देने से शुभ पुण्य प्रकृति का बन्ध होता है। इस कार्य के साथ उच्चतम शुभ भावना हो तो तीर्थ-करत्व तक की उपलब्धि सम्भव हो जाती है।

(२) पान पुण्य–शुभ भावों के साथ दूध, पानी वगैरा पीने की वस्तुओं को देने से होने वाला शुभ कर्म बन्धन।

(३) वस्त्र पुण्य–जरूरतमन्द को कपड़े आदि देने से पुण्य कर्म का बन्ध होता है।

(४) लयन पुण्य–ठहरने के लिये स्थान आदि देने से होने वाला शुभ कर्मों का बन्ध।

(५) शयन पुण्य–बिछाने के लिये पाटा बिस्तर] और स्थान आदि देने से बंधने वाला पुन्य कर्म।

(६) मनः पुण्य–गुणीजन को देखकर मन मे हर्षित होने से शुभ कर्मों का बन्ध होता है।

(७) वचन पुण्य–वाणी के द्वारा गुणीजन की प्रशंसा करने से होने वाला शुभ कर्म का बन्ध।

(८) काय पुण्य–शरीर के द्वारा गुणीजन की सेवा भक्ति आदि करने से जिन शुभ कर्मों का बन्ध होता है उसे काय पुण्य कहते हैं।

(९) नमस्कार पुण्य–श्रद्धा भाव एवं विनम्रतापूर्वक गुणीजन को नमस्कार करने से भी शुभ कर्मों का बन्ध होता।

शरीरों की सारी प्रक्रियाएं आत्मा की क्रियाओं पर ही निर्भर करती हैं। इसीलिये प्रार्थना में कहा गया है कि 'निज स्वरूप जो क्रिया साधे………।' उस निज स्वरूप का आशय उसी आत्मा से है जो तीनो शरीरों का मूल सचालक है। यह समझकर जो क्रिया की जाती है, वह आध्यात्मिक क्रिया कही जाती है। इन सारी क्रिया-प्रक्रियाओ को भली प्रकार समझ लेने पर ही जीवन का, उच्चतम विकास सम्पन्न किया जा सकता है

दि. २२-७-१६८६



पंडित कौन ?

श्री श्रेयास जिन.......... ..

भूतकाल व्यतीत हो चुका है, वर्तमान चल रहा है तथा भविष्य आने वाला है—यह काल क्रम है । वर्तमान सामने होता है एव वर्तमान मे ही भूतकालीन चिन्तन के आधार पर भविष्य काल का कार्य निर्धारण करना होता है । सभी प्राणियो में वर्तमान का विशेष रूप से विश्लेषण करने वाला मनुष्य होता है । मानव जीवन ही ऐसा प्रबुद्ध जीवन होता है जिसमें भूतकाल के अनुभवो का स्मरण करके पिछले कार्यों का मूल्यांकन किया जा सकता है । इसी जीवन मे यह सक्षमता प्राप्त होती है कि वह अपने पिछले कृत्यों तथा समस्त घट-नाओ पर वास्तविक आत्म विकास के सन्दर्भ मे विचार कर सकता है, उनकी शुभता-अशुभता को आंक सकता है तथा भविष्य के लिये यह निर्धारित कर सकता है कि उसको अपने ही आचरण तथा समूचे वातावरण मे किस प्रकार के संशोधन करने चाहिये ? गहन वैचारिकता एव सूक्ष्म चिन्तन की शक्ति के माध्यम से मानव अपनी भूलो मे सुधार एवं सुधार से विकास की अन्तिम मजिल तक पहुंच सकता है ।

वर्तमान की विशिष्टता

किन्तु वर्तमान काल की विशिष्टता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती है क्योकि आत्म विकास की दिशा मे जो भी कदम उठाये जायेंगे—जो भी प्रयत्न किये जायेंगे, वह सब वर्तमान मे ही किया जायगा । इसका कारण है । वर्तमान सदा सतत प्रवाहित होता है । जब भी कुछ सोचें, कहे या सुने तो वह वर्तमान ही होता है । गया हुआ और आने वाला काल तो मात्र मान्यता में ही रहता है, जबकि वरतने वाला वर्तमान हर समय प्रवहमान होता है ।

वर्तमान मे यह दृश्यमान मानव तन और जीवन फिर भी स्थायी नही है । तन और जीवन की नश्वरता सब जानते है जबकि आत्मा की अमरता का बोध भी सबको होना चाहिये । आत्म तत्व स्थायी और शाश्वत होता है । अपना आयुष्य पूर्ण करके आत्मा उस तन और जीवन को त्याग कर अपने पूर्वकृत कर्मानुसार नये तन और जीवन मे प्रवेश कर लेती है । वर्तमान मे प्राप्त इस औदारिक शरीर को छोड़ भी सकती है या नये औदारिक शरीर मे ही जन्म ले सकती है । लेकिन दो शरीर तैजस और कार्माण तब तक आत्मा के साथ संलग्न रहते हैं जब तक कि आत्मा पूर्ण रूप से देह मुक्त होकर अशरीरी नही बन जाती है । अशरीरी नही बन जाने तक यह आत्मा इस संसार की चार गतियों तथा चौरासी लाख योनियो मे अपने शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप परिभ्रमण करती रहती है । देव या नरक गति मे जायगी तो वैक्रिय शरीर प्राप्त कर सकती है और मनुष्य या तिर्यंच गति मे रहेगी किन्तु तैजस और कार्माण शरीर तो प्रत्येक समय मे उसके साथ जुड़े हुए ही रहेगे उस समय मे भी जब आत्मा एक तन और जीवन को छोड़कर दूसरे तन और जीवन मे प्रविष्ठ करने के बीच के समय मे से गुजरती है । आत्म स्वरूप के साथ देह संलग्नता इस संसार परिभ्रमण मे इतनी जटिल होती है ।

वर्तमान की सर्वश्रेष्ठ विशेषता यह है कि यदि जन्म-मरण रूप इस संसार मे परिभ्रमण करते हुए आत्मा केवल वर्तमान को ठीक ढग से साधती हुई चले तो उसका भूतकाल भी गौरवमय बन सकता है तथा भविष्यकाल भी सुनियोजित । वर्तमान मे रहता और वरतता

हुआ मानव वर्तमान मे भली प्रकार चिन्तन करे तथा अपने ज्ञान व आचरण को उच्चकोटि का बनाता रहे तो भूतकालीन अनुभव उसके विकास क्रम को पुष्ट बनावेगे एव भविष्य मे वह उत्तरोत्तर विकास की उच्चतर श्रेणियो मे प्रगमन करता रहेगा। वर्तमान मे वह बराबर सोचता रहे कि भूतकाल के आधार पर मैं कैसे क्या सावधानी बरतूं और भविष्य मे अपनी आत्मा को शुद्ध स्वरूपी बनाने के लिये आज कौनसा पुरुषार्थ करू ? यदि ऐसा चिन्तन वह निरन्तर नही करता है तो उसका वर्तमान स्वरूप यथावत् भी रह सकता है अथवा असावधान होने की स्थिति मे अधिक विकृत भी बन सकता है। इसी कारण वर्तमान को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बताया गया है।

पंडित वह जो क्षण को भी जानता है।

वर्तमान काल ही नही, उसका एक एक क्षण भी अति महत्त्वपूर्ण होता है और सच पूछे तो वरतने वाला वह एक क्षण ही तो वर्तमान होता हैं क्योकि जो क्षण व्यतीत हो गया, वह भूतकाल बन गया तथा जो क्षण आने वाला है वह वर्तमान में भविष्य होता है। अत: सूक्ष्म रूप से सोचें तो वर्तमान एक क्षण का ही तो होता है। इसी दृष्टि से शास्त्रकारो ने पडित याने ज्ञानी की व्याख्या करते हुए कहा है कि --

"खरण जाणइ पंडिए"

महावीर प्रभु ने जो अपना पहला उपदेश दिया, उसका गणधरो ने संकलन किया, जिसका नाम है आचारांग सूत्र। इसका वस्तु-विषय है अंगभूत आचार। जैसे मनुष्य का यह शरीर है और उसके भिन्न-भिन्न अंग है हाथ, मुंह, पैर, मस्तिष्क आदि उसी प्रकार मनुष्य के आचरण के अंग रूप क्या-क्या सिद्धांत और विचार हैं—उनका उल्लेख इस आचारांग सूत्र मे किया गया है। आचरण रूपी विराट् पुरुष का जीवन वृत्त किस ढग से चले और उसका सच्चा विकास कैसे सधे इस तरह का उपदेश-सार इस सूत्र के पहले अंग मे दिया गया है। इसी पहले अंग का यह एक सारपूर्ण वाक्य है कि पडित वही है जो एक क्षण को जानता है। इस छोटे से वाक्य में व्याकरण की

दृष्टि से कर्त्ता, कर्म और क्रिया तीनो है। यह वाक्य छोटा-सा है किन्तु इसकी गागर मे भावार्थ का सागर भरा हुआ है। कम में अधिक कह जाना—यह ज्ञानियो का स्वभाव होता है। वाक्य गागर जितना छोटा और अर्थ व भाव समुद्र के समान विशाल व गूढ। 'खण जाणइ पडिए' ऐसा ही वाक्य है।

जहां भौतिक तत्त्वो के विज्ञाता भी पदार्थों का छोटे से छोटा रूप बनाते हैं फिर भी उसमे अपूर्णता रह जाती है किन्तु सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर देव ऐसे परिपूर्ण ज्ञानी होते हैं जो इस जीवन के महान् रहस्यो को छोटे से सूत्र मे भी परिपूर्ण रूप से अभिव्यक्त कर देते हैं। कारण वे परिपूर्ण जीवन वाले होते हैं जो जीवन वाले होते है जो जीवन कठिन तपस्या से निर्मित विशुद्ध आत्म स्वरूप पर आधारित होता है। आत्मस्वरूप पर लगे हुए आठ कर्मों के मल को धो देने के बाद आत्मा के आठ गुण प्रकाशमान हो जाते हैं। तीर्थंकर चार घाती कर्मों को समूल नष्ट कर देते है और केवल ज्ञान व केवल दर्शन को प्रकट कर लेते हैं। उस परम ज्ञान से निवृत्त सूत्र वस्तुत. गागर में सागर के समान ही होते हैं।

तीर्थंकर जो ऐसे ज्ञान गाभीर्य्य को अभिव्यक्त करते है, वे भी मनुष्य ही होते हैं। ऐसे हाथ पैर सहित औदारिक शरीर वाले जैसे कि आप और हम है। उनका जन्म मनुष्य के रूप मे ही होता है तो उनके सारे कार्यकलाप भी उसी प्रकार के होते हैं किन्तु वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बनते है, वह अपनी कठिन साधना के बल पर हो और वैसी साधना करने की क्षमता प्रत्येक भव्य मानव मे रही हुई है। इस क्षमता का सर्वोच्च विकास वे ही साधते हैं जो क्षण को जान लेते हैं—क्षण की महिमा को आत्मासात् कर लेते हैं।

कैसी होती है क्षण की महिमा ?

अत यह ज्ञातव्य है कि क्षण की महिमा कैसी होती है ? क्षण की खोज कैसे की जाती है और क्षण की निधि की सप्राप्ति कब सम्भव बनती है ? क्षण को जानना एक बात है लेकिन क्षण को ही जान लेना उच्चतम साधना का प्रतिफल हो सकता है। क्षण ही

को सूक्ष्मता पूर्वक जान ले तो समझिये कि त्रिकाल को जान लिया जायगा । प्रश्न यही है कि क्षण को कैसे जानें और कैसे इसकी महिमा को अपने जीवन के विचार एव व्यवहार मे समाविष्ट करले ?

सूक्ष्म वस्तु का ज्ञान सूक्ष्म दृष्टि से ही किया जा सकता है और गहरी धारणा के साथ ही उसे अपने जीवन मे उतारा जा सकता है । एक दृष्टि और समग्र ध्यान उस ओर केन्द्रित हो जाना चाहिये या यो कहे कि सम्पूर्ण एकाग्रता के साथ खोज मे जुट जाना होता है । जीवन का अन्वेषण करना होता है कि इसमे क्या-क्या रहस्य समाए हुए हैं और उनका उद्घाटन किस एकाग्र दृष्टि से किया जा सकता है ? पहिचान करनी होती है कि इस उपयोगी मानव तन का निर्माता कौन है और उसे जागृत बनाकर कैसे क्षण को जाना जा सकता है व पडित बना जा सकता है ? क्षण की महिमा का वही आकलन कर सकता है जो आन्तरिकता मे प्रवेश करके अपनी आत्मिक शक्तियो का परिचय पा लेता है ।

अपने को जानना है, वही क्षण को जानना है और जो क्षण को जानना है, वही अपने वास्तविक स्वरूप को जानना है, यह इन चर्मचक्षुओ से नही देखा जा सकता है । क्षण को जानने और देखने के लिये ज्ञान चक्षुओ को खोलना पड़ेगा । अन्दर के जीवन की खोज साधना के माध्यम से ही सफल बन सकती है । जो आत्मा को देख लेते हैं, वे परमात्मा को भी देख लेते हैं और ऐसे खोजी साधक ही क्षण की महिमा को जानते हैं एवं वे ही पडित कहलाते हैं ।

क्षण जानने और साधने की महिमा अपार होती है कि इसी जीवन मे सर्वोच्च विकास को प्राप्त हो सकते हैं । कई पुरुष कल्पना करते हैं कि भगवान् के दर्शन हो जाय और इस जन्म मे न हो सकें तो भावी जन्म मे हो जाय । तीर्थंकर देव का कथन है कि ऐसे दर्शन एक ही जीवन मे हो सकते है । एक ही जीवन मे यदि भव्य आत्मा क्षण को जान और साधकर पडित बन जाय तो अपना परिपूर्ण विकास करके सिद्ध भगवान् के दर्शन कर सकती है । सिद्ध भगवान् के शरीर नही होता । तीन शरीरो मे से जब तक तैजस और कार्माण दो शरीर रहते हैं, तब आत्मा उन दो शरीरो के साथ परलोक में जाती है,

क्योंकि इहलोक का औदारिक शरीर यही छूट जाता है। देवता की योनी होती है तो वैक्रिय शरीर रहता है। जब तक एक साथ तीन शरीरो का अवस्थान होता है तब तक आत्मा सिद्ध अवस्था को प्राप्त नही होती है। लेकिन औदारिक, तैजस और कार्माण इन तीनो शरीरो मे रहते हुए आत्मा अपनी कठिन साधना के माध्यम से उस शरीर के भीतर रहे हुए सारे शरीर के जर्रे-जर्रे को देख सकती है।

साधना की ऐसी उच्च एवं सूक्ष्म परिणति इसी तथ्य पर निर्भर करती है कि किसी भव्य आत्मा ने क्षण के महत्त्व को जान लिया है और प्रभु महावीर के क्षण मात्र भी प्रमाद न करने का सदेश अपने जीवन मे क्रियान्वित कर लिया है। क्षण के महत्त्व को जानने का आशय है कि एक क्षण का भी उपव्यय न हो। जीवन तभी अमूल्य बनता है जब एक क्षण के अमित मूल्य को भी पहिचान लिया जाता है। एकाग्र साधना का एक-एक क्षण युगो का विकास पलो मे साध सकता है। एक क्षण की उच्चकोटि की भावना समग्र जीवन का रूपान्तर कर सकती है।

क्षण दर्शन ही परमात्म दर्शन

वैज्ञानिकों ने पूर्व मे घोषणा की थी कि हमने परमाणु का अनुसधान कर लिया है। जब धर्मवेत्ताओ ने उन्हे बताया कि आप परमाणु का जो स्वरूप खोज पाए हैं, वह उसका वास्तविक स्वरूप नही है। तब उन्होंने पुन. अनुसंधान कार्य आरम्भ किया तथा परमाणु की इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन आदि जातिया खोजी। वह भी परमाणु नही था क्योकि परमाणु अविभाज्य होता है। इन जातियो के भी और टुकडे किये गये तब ईशान, मेशान आदि जातिया निकली। ज्ञानियो की दृष्टि से वह भी परमाणु नही है, अपितु अनन्त परमाणुओ का पिंड ही है। इससे भी अधिक सूक्ष्म दर्शन तक क्षणदर्शी पहुच सकता है।

इस संसार मे जितने भी मनुष्य हैं और अन्य प्राणी हैं—वे किस स्थल पर एक समय मे क्या क्रिया कर रहे हैं—उसे केवलज्ञानी एक साथ देख सकते हैं। वे उनकी भावनाओ के सभी प्रकार और

भेद भी देख सकते हैं-जान सकते हैं। वे अपने केवलज्ञान में यह भी देख लेते है कि मेरे ज्ञान मे और सिद्ध भगवान् के ज्ञान मे क्या कोई अन्तर तो नही है ? उनकी सर्वदर्शिता का मूलाधार वस्तुतः क्षण-दर्शिता ही होती है।

सिद्ध भगवान् उपदेश नही दे सकते हैं, क्योंकि उपदेश देने का माध्यम शरीर उनके नही होता है। लेकिन वे सभी भव्य आत्माओं के लिये आदर्श रूप रहते हैं। अरिहत-अवस्था मे दिया गया उनका ज्ञान पथप्रदर्शक होता है। ऐसे ही समुन्नत ज्ञान का यह सार सूत्र है है कि जो क्षण को जान लेता है, वह पडित कहलाता है। ऐसा पंडित परमात्म दर्शन की दिशा मे तेजी से आगे वढ जाता है।

आप किसे पंडित मानते हैं ?

आप शायद यह मानते होंगे कि तरह-तरह की कई डिग्रियों को प्राप्त कर लेने वाला पडित होता है किन्तु आपकी यदि ऐसी मान्यता है तो वह समुचित नही है। इसके लिये तीर्थंकर देवो द्वारा उपदेशित व्याख्या का गहराई से चिन्तन कीजिये। पंडित वही होता है जो क्षण-समय के सम्पूर्ण महत्त्व को हृदयगम कर लेता है और उसका समग्र रीति से सदुपयोग करने मे जुट जाता है। तभी वह समस्त तत्त्वो का ज्ञाता बनता है। गूढ तत्त्व-ज्ञान ही पाडित्य का परिचायक होता है।

भौतिक तत्वो का ज्ञान तो कई लोग कर लेते हैं लेकिन आत्म तत्त्वो का ज्ञान करने वाले कितने लोग हैं ? आत्म तत्त्वो का ज्ञान नही किया तो समझिये कि वह पडित भी नही हुआ। आप लोग समाचार पत्रो के जरिये कई बातें जान लेते हैं कि अमुक-अमुक देश मे क्या-क्या घटनाएं घटित हो रही है लेकिन आप अपने भीतर देखे कि समीप की वात आप अभी तक नही जान पाये हैं। अपनी ज्ञान रूपी तिजोरी के ताले को तो अभी तक आपने छुआ ही नही है। उसकी चावी कहा है—तिजोरी का ताला कैसे खुलेगा—यह सव जानना वाकी है। लेकिन जिस दिन यह सव जानकर आप अपनी तिजोरी का ताला खोल लेंगे तो आपके अन्तकरण मे ज्ञान का तेजोमय प्रकाश

फैल जायगा । उस समय मे आप अनुभव कर लेंगे कि आप पंडित हो गये हैं और यह भी जान लेगे कि वास्तव मे पंडित कौन होता है ? किन्तु उस सीढी तक पहुचने के लिये क्षण को जानने, समझने और काम मे लेने का अभ्यास अवश्य शीघ्र आरम्भ कर दीजिये ।

और पण्डित की व्याख्या को भलीभाति समझ लीजिये । क्या तरह-तरह की डिग्रिया प्राप्त करले वह पण्डित ? अथवा जो इस संसार मे मायाचक्र चला कर सबको वश में करले वह पण्डित ? अथवा पापपूर्ण प्रवृत्तियो से अपनी कीर्ति का प्याला लबालब भरले वह पण्डित ? अथवा कुशलतापूर्वक दुनिया के कामो मे तरक्की करके अपनी धाक जमाले वह पण्डित ? आपकी पण्डिताई की सारी परि-स्थितियों पर तुलनात्मक जांच-परख करेंगे तो स्वतः ही अनुभव ले सकेंगे कि वस्तुत. पण्डित किसे कहा जाना चाहिये ?

पण्डित की व्याख्या का उल्लेख गीता में भी आया है । अर्जुन ने जब श्रीकृष्ण से प्रश्न किया कि पंडित किसे मानें, तब उन्होने उत्तर दिया—विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी और कुत्ते तक मे जो आत्म तत्व का दर्शन करता है अर्थात् समदर्शिता को अपनाता है वही पण्डित कहलाने का अधिकारी होता है । क्या यह पाडित्य भी आत्म स्वरूप की समानता को परख लेने के सच्चे पुरुषार्थ पर आधारित नही है ? सबको आत्मवत् समझ वही पण्डित । और आत्म तत्त्व की समानता का रहस्य वही जान सकता है जो क्षण को जान लेता है । सभी शरीरो मे एक स्वरूपी आत्मा रही हुई है—इसका अनुभव लेना ही सच्चा पांडित्य है ।

सभी आत्माओं में समदर्शिता–

आत्म स्वरूप की समदर्शिता को जो जान और मान लेता है, वह समस्त प्राणियो के प्रति समान व्यवहार करने की कुंजी भी पा लेता है । यह वही कुंजी होती है । आपके भीतर रही हुई ज्ञान की तिजोरी का ताला खोल देती है तब जीवन का एक-एक क्षण प्रकाशमान हो उठता है । आत्म-समता की यह दृष्टि आप भी मानते तो हैं क्योकि आप बोलते है सिद्धा जैसो जीव है, जीव वही सिद्ध होय । यह क्या है ? आत्मा का परिपूर्ण

विकास सिद्धत्व होता है और प्रत्येक जीव में सिद्ध होने की क्षमता रही हुई है । अन्तर यही है कि सिद्धात्मा सम्पूर्णतः पाप मुक्त हो चुकी है लेकिन संसारी जीव की आत्मा कर्म मैल से रंगी हुई पाप पूर्ण है । पाप की कालिमा का ही अन्तर है अत· क्षण को समझकर इस कालिमा को धो डालें वही पण्डित । अपनी आत्मा को शुद्ध बनाकर सबको आत्मवत् समझे और वैसा ही व्यवहार करे—वह पडित ।

आप सब यहां पर जो बैठे हुए है- जीव हैं या जड़ ?आत्मा हैं या पत्थर ? कोई अपने को जड या पत्थर नही मानेगा । आप जीव हैं-आत्मा है और भव्यता के आधार पर सिद्ध बनने का सामर्थ्य रखते हैं । तो क्या आप पण्डित नही बन सकते हैं ?

जिनको जैन दर्शन का वास्तविक ज्ञान नही है, वे भले यह कह सकते हैं कि शरीर रूप में सभी जड हैं और शरीर ही जीवन का एकमात्र आधार है । वे आत्मतत्त्व को जानते नही, पहिचानते नही और मानते नही, लेकिन उनको अनुभव के आधार पर समझाया जाय तो वे समझ सकते हैं । जो जीवन को जड़ ही मानले तो उनसे न तो पाडित्य के विषय मे तर्क किया जा सकता है, न समदर्शिता के विषय मे । वे यह नही सोच पाते कि इस चैतन्ययुक्त शरीर को जड़ कैसे मानले ? फिर वैसा का वैसा मृत शरीर क्या कहलायगा ? चेतन और मृत शरीर क्या समान धर्मी माने जायेंगे ? ऐसी अनभिज्ञता को वे महसूस करेंगे और सही जानकारी लेने की चेष्टा करेंगे तभी वह अनभिज्ञता मिट सकेगी । लेकिन जैन दर्शन को जो जानते और मानते हैं—उन्हे यदि जड़ कह दिया जाय तो अवश्य उनकी आत्मा को ठेस पहुचेगी । कोई किसी को गाली के तौर पर पशु या ढाढा भी कह देता है तो सुनने वाले को दु ख होता है फिर भाटा (जड) कह देना तो और भी ज्यादा दु खद महसूस होगा । क्योकि जो चैतन्य है, उसे जड़ कैसे कह दें ?

भगवती सूत्र मे प्रश्न किया गया है कि-भंते रूवी आया अरूवी आया वा । यह आत्मा रूपी है अथवा अरूपी ? उत्तर है कि यह आत्मा रूपी भी है और अरूपी भी है । आत्मा के ये दोनो गुण एक साथ किस हेतु से बताये गये हैं ? उसका हेतु भी बताया गया

है। जो आत्माएं कर्मों से संलग्न हैं तथा स्थूल शरीरों को धारण किये हुए हैं उनके उस स्वरूप की दृष्टि से वे रूपी कहलाती हैं। वहां स्वयं के शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से आत्मा अरूपी होती है। अतः स्थूल शरीर में निवास कर रही आत्मा का स्वरूप एक प्रकार से रूपी बन जाता है। इस का अर्थ है कि दिखाई देने वाले इस शरीर के कारण जीवन जड नही है क्योकि वह चैतन्य आत्मा से संयुक्त है। हां आत्मा के शरीर में निकल जाने के बाद शेष बचा मृत शरीर जरूर जड होगा। आत्मा की सुषुप्ति-जागृति की अपेक्षा से चेतना मन्दी या तीव्र दिखाई दे सकती है लेकिन कैसी भी हो चेतना चेतना ही कही जायगी। जैसे एक किलो दूध मे कोई दस किलो पानी मिलादे तब भी वह दूध ही कहा जायगा, वरना वचन का दूषण लगेगा। अत. आत्म शक्ति को अस्वीकार करने का प्रश्न नही उठता। इस शक्ति को महसूस करके ही 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' बना जा सकता है।

क्षण को जानना वर्तमान को जानना है

जो क्षण को जानना है, वही वर्तमान को जानना है क्योकि वर्तेत हुए क्षण मे सदा ही वर्तमान का अस्तित्व बना रहता है। वर्तमान को जान लेने पर ही भविष्य को सुव्यवस्थित किया जा सकता है। यह वर्तमान को ही जानना है कि हम कौन है ? चैतन्य शक्ति अथवा मृत शरीरवत् जड ? एक प्रकार से नही, आत्मशक्ति का अनुभव कई प्रकारो से हो सकता है। एक हीटर होता है—उसमे जब तक बिजली का प्रवाह नही छोडें तब तक उसको धातुपिड ही या कि वह जिस पदार्थ का बना है उसका पदार्थ पिंड ही कहेगे लेकिन स्विच ऑन करने पर वह अग्निपिंड बन जायगा। तो वह है क्या ? बिजली को भीतर धारण करता है तो हीटर है वरना एक निरूपयोगी पदार्थ जैसी कि एक लाश होती है। शरीर के जर्रे-जर्रे मे जब तक आत्मा का निवास है उसका जर्रा-जर्रा जीवन्त रहता है। कही जरा सी सुई की नोक का स्पर्श होगा तो तुरन्त विदित हो जायगा और मृत शरीर मे सुई घुसेड भी देंगे तब भी उसमे किसी तरह की महसूसगिरी दिखाई देगी क्या ? इन दोनो स्थितियो का अन्तर है, वही तो आत्म तत्त्व का अस्तित्व है। और अभी इस जीवन मे अपनी आत्मा की अनुभूति लेने मे ही वर्तमान की महसूसगिरी है तथा क्षण की

जानकारी है । इस चैतन्य शक्ति की सार्थकता के रूप में वर्तमान क्षण को जो साध लेता है, वही पडित कहलाता है ।

और जो वर्तमान को नही समझता वह भला भविष्य को भी कैसे समझ सकता है ? अतः क्षण का भावार्थ लिया जा सकता है—(१) समय (२) वर्तमान और (३) आत्मा । जो सच्चे अर्थ मे पंडित नही हैं—हा ज्ञान उन्होने काफी सीख लिया है—वे क्षण समय या आत्म तत्त्व पर भी प्रवचन तो सार पूर्ण दे सकते हैं किन्तु आत्मतत्त्व को जानने और देखने का प्रसग आवे तो वे वैसा नही कर सकेंगे । एक बार एक विद्वान् ने आत्मतत्व पर प्रवचन दिया जिसे अन्य श्रोताओ के साथ एक चाडाल पत्नि ने भी सुना । दूसरे दिन नदी से स्नान करके बडे सवेरे वे विद्वान् लौट रहे थे तो वही चांडाल पत्नी सड़क पर झाड़ू लगा रही थी । विद्वान् बार-बार उसे दूर हटने को कह रहे थे । पर वह हटी नही । तब वे झल्लाकर बोले—पापिनी क्या मुझे अपवित्र करने का सोच लिया है ? फिर क्रोध मे वे अंटशट बोलने लगे तो उस चाडालिन ने उनका हाथ पकड़ लिया । लोग इकट्ठे हो गये । मामला दंडाधिकारी के पास पहुचा । चाडालिन बोली—इन्ही के प्रवचन के अनुसार सबमे एकसी आत्मा है फिर इन्होने मेरे साथ घृणा और भेद का व्यवहार क्यो किया दूसरे क्रोध इन्होने किया तो असल चांडाल ये हुए—मुझ जाति से चाडालिन को झिड़कने का इनको क्या अधिकार था ? दडाधिकारी ने विद्वान् को दंडित किया ।

तो क्या वे विद्वान् पडित कहे जावेगे ? जिन्होने अपनी आत्मा को नही समझा, समय को नही पहिचाना और क्षण को नही जाना तो विद्या के धनी होने पर भी क्या सच्चे अर्थों मे वे पडित होगे? वर्तमान मे दीखने वाले शरीर पिंड को तो समझना और पहिचानना सबसे पहले जरूरी है । स्थूल को समझेंगे तभी सूक्ष्म को समझ सकेंगे । मूल को जानेंगे तभी तो शाखा-प्रशाखाओ को जान सकेंगे ।

अतः पंडित कौन ? इसका उत्तर चिन्तन और मनन की गूढता मे उतर कर सिर्फ जानिये ही नही, बल्कि भली प्रकार से मह-

सूस करिये । तब स्वयं भी पण्डित बनने के प्रयास में जुट जाइये । इस जुटने का मतलब होगा कि आप क्षण के महत्त्व को पकड़ें, समय के मूल्य को पहिचाने तथा वर्तमान को अपने अन्तर्पट मे उतार लें । यह साधना अभ्यास से सिद्ध हो सकेगी तथा अभ्यास की त्वरित पूर्ति या सफलता निष्ठा पर निर्भर करेगी ।

दि. २३-७-१९८६



गरिमामय गणेशाचार्य

श्री श्रेयास जिन अन्तर्यामी.......

आज का प्रसग आप सबको विदित है। आज उन गरिमामय गणेशाचार्य जी का पावन जन्म दिवस है जिन्होने निर्ग्रन्थ श्रमण सस्कृति की सुरक्षा के लिये शांत क्रान्ति का शखनाद किया। उनमें उन्नायक जीवन के विषय मे तरुण तपस्वी विद्वान् मुनि श्री ने विवेचनात्मक रूप से अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। मैं भी उन महापुरुष के दिव्य जीवन के प्रति अपनी श्रद्धा समर्पित करुंगा। उन महापुरुष की दिनचर्या एव जीवनचर्या के विषय मे मैं सक्षिप्त रूप मे भी कहूं तब भी काफी समय की अपेक्षा रहेगी। उनके जीवन की गरिमा का मैंने जो प्रत्यक्ष अनुभव लिया, उसका ही कुछ विवरण आपके समक्ष प्रस्तुत करुंगा।

श्रमण सघ की कैसी क्या अवस्था थी तथा उसकी निर्मिति मे आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा का कितना क्या योगदान रहा— उस विषय मे उनके आचार्य पद पर चयन का जो कुछ अभी कथन किया गया, उससे आपको तत्कालीन सारी परिस्थितियो की जानकारी मिल गई होगी। सामायिक—स्वाध्याय के प्रेरक आचार्य श्री हस्तीमल

जी म. सा. ने जो प्रस्ताव रखा था उस का समर्थन भी हो गया था। आचार्य श्री आत्माराम जी म. सा. के लिये भी सर्वानुमति बनाई गई थी कि आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. श्रमण सघ के सर्व सत्ता सम्पन्न आचार्य पद को सुशोभित करेंगे तथा साहित्यिक क्षेत्र की उनकी अपूर्व सेवाओ के सम्मान मे वयोवृद्ध आचार्य श्री आत्माराम जी म सा, आचार्य पद को सुशोभित करेंगे। इस दृष्टि से आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. को उपाचार्य मान्य किया गया। प्रतिनिधि मुनियो एवं सर्व चतुर्विध संघ की इस स्वीकृति से आचार्य श्री गणेशीलाल जी म सा सहमत नही हुए। उन्होने फरमाया कि यहा तो मैं अपना भार उतारने के लिये आया हू। लेकिन जब सब नही माने तो वे (शातिरक्षक सभापती होने की दृष्टि से) सभा समाप्त कर अन्दर पधार गये।

सबका संघ-भार सम्हालने का अनुरोध

सादड़ी (मारवाड) के गुरुकुल भवन के मध्य मे हाल है तथा चारो ओर कमरे बने हुए हैं। उन कमरो मे सभी मूर्धन्य विराजते थे। इससे उन सबको बेचैनी हो गई। रात को दो बजे सभी बड़े-बडे मुनिराज आचार्य श्री जी के पास पहुचे और निवेदन करने लगे कि यदि आप श्रमण सघ के पद भार को स्वीकार नही करेंगे तो यह श्रमण सम्मेलन भी सफल नहीं हो सकेगा और इस सम्मेलन को यदि सफलता नही मिली तो सारे भारत भर मे हसी जैसी होगी कि इतने बड़े समाज मे सघ का सर्वानुमति से नेतृत्व सम्हालने वाला कोई प्रतिनिधि ही नही मिला।

वर्तमान आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी म.सा., श्री सौभाग्यमल जी, मरुधर केशरी श्री मिश्रीमल जी म. सा. आदि सबने बारी बारी से आचार्य श्री जी से उक्त निवेदन किया तथा बाद मे सभी एकसाथ पहुचे। उस समय मे मैं भी वहा मौजूद था। मैंने देखा कि उक्त निवेदन करते हुए कइयो की आखो मे आसू भर आये थे। सभी ने जोर देकर अनुरोध किया कि कुछ भी हो—यह पद आपको सम्हालना ही पडेगा। उस समय भी आचार्य श्री जी ने यही फरमाया कि मैं अब वृद्ध हो चला हू अतः किसी युवा सन्त का इस पद के लिने चयन कीजिये—मुझे यह पद भार लेने का आग्रह न करें। आप जिस किसी

सन्त का इस हेतु चयन करेंगे, मैं विश्वास दिलाता हूं कि मैं उनकी आज्ञा मे चलू गा । फिर भी सभी का आग्रह जारी रहा । वे कहने लगे कि आप पर सभी आबाल-वृद्ध साधु साध्वियो का अमित विश्वास है तथा आप चतुर्विध संघ मे स्नेह की लहर पैदा करने मे समर्थ हैं । अत्यन्त आग्रह एव सभी के स्नेह के कारण आचार्य श्री जी ने तब अपनी स्वीकृति प्रदान की । उस समय उपाध्याय श्री अमरचन्द जी म. सा ने जो वक्तव्य दिया वह विद्यमान है । मरुधर केशरी जी ने सभी प्रतिनिधियो की ओर से धन्यवाद ज्ञापित किया ।

इस प्रकार सभी ने एक स्वर से आचार्य देव का श्रमण सघ के आचार्य पद पर चयन किया । गुजरात एव सौराष्ट्र के सिवाय देश भर के श्रमण प्रतिनिधियो ने जो वहा उपस्थित थे, आचार्य श्री जी की सेवा मे आचार्य पद की चादर ओढाते समय अपने प्रतिज्ञा पत्र भर कर प्रस्तुत किये । उस समय दो चादरें ली गई । एक चादर तो ऊचे आसन पर विराज मान कराके आचार्य श्री जी को ओढाई गई तो दूसरी सम्मान की चादर श्री आत्माराम जी म. सा. के शिष्य युवाचार्य श्री शुक्लचन्द जी म सा. को वहा दी गई कि आप आचार्य श्री आत्माराम जी म सा. की सेवामे पधार कर यह चादर उन्हे ओढावे । वह चादर लगभग दो वर्ष बाद लुधियाना में उन्हे ओढाई गई ।

श्रमण संघ की एकता के मार्ग पर

सादडी सम्मेलन की सारी कार्यवाही लिपिबद्ध की गई थी और वह आज भी सुरक्षित है । इसके बात सोजत मे भी सम्मेलन हुआ था जिसमे मुख्य मुख्य मुनिराजो की उपस्थिति मे एकता को सुदृढ बनाने के सम्बन्ध मे काफी चर्चाए हुई । बाद मे जोधपुर मे भी छ. बडे सन्तो का सयुक्त चातुर्मास हुआ था-आचार्य श्री गणेशीलाल जी म सा, प्रधानमन्त्री श्री आनन्द ऋषि जी म. सा., सहमन्त्री श्री हस्तीमल जी म. सा, श्री अमरचन्द जी म सा, (सहमन्त्री श्री प्यार चन्द जी म सा. उपस्थित नही थे किन्तु निर्णयो के बारे मे उनकी स्वीकृति थी) पडित श्री समरथमल जी म. सा. व श्री पूरणमल जी म सा. आदि का । वह चातुर्मास सम्बन्धित विचार विमर्श के साथ सम्पूर्ण हुआ ।

श्रमण संघ में शास्त्रीय दृष्टि से एकरुपता लाने के उद्देश्य से ही वहां सारा विचार विमर्श हुआ, वह भी लिपिबद्ध है। अगला सम्मेलन कहां रखा जाय-इस बारे में भी चर्चा हुई। आचार्य श्री गणेशीलाल जी म सा. ने फरमाया कि मेरे समक्ष श्रमण सघ के तीन तीन कार्य हो चुके हैं इसलिये अगला सम्मेलन आचार्य श्री आत्माराम जी म सा के सान्निध्य में लुधियाना में रखा जाय ताकि सबको उन महापुरुष का दर्शन लाभ मिल सके। सभी प्रतिनिधियो व उपस्थित समुदाय ने अनुभव किया कि आचार्य श्री जी के हृदय में पद के प्रति कितनी निर्लिप्तता है। इस सुझाव से सभी बहुत प्रसन्न हुए। फिर यह सुझाव लुधियाना मे आचार्य श्री आत्माराम जी म. सा. को पहुंचाया गया। उनकी स्वीकृति भी हो गयी और सघ में इस बात की घोषणा भी करदी गई।

तदन्तर कान्फरेन्स का एक शिष्ट मडल आचार्य श्री जी की सेवा में कुचेरा पहुंचा। उसने निवेदन किया कि आपको लुधियाना पधारना होगा। आचार्य श्री जी ने फरमाया कि चाहता तो मैं भी यही हूं किन्तु इस समय मेरी शारीरिक स्थिति ऐसी है कि लगभग ८३ मील का विहार मैं १० दिन में पूरा कर पाया हूं। ऐसी स्थिति मे आप ही सोच समझ सकते है कि कैसे क्या हो सकेगा। शिष्ट मंडल की ओर से बताया गया कि मैंनेजिंग कमेटी में इस सम्बन्ध मे विचार विमर्श हुआ तो सबकी यह राय रही है कि आचार्य श्री आत्माराम जी म. सा. तथा आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. दोनो इस सम्मेलन में उपस्थित रहे तो सोने मे सुहागा जैसा कार्य होगा। अत. आप श्री की उपस्थिति तो आवश्यक है।

फिर शिष्टमंडल आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी म. सा की सेवा में गया तो उन्होंने यही फरमाया कि यदि आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. वहा नही पधार सकते हों तो मेरी भी आने की भावना नही है। तब शिष्टमंडल पुनः आचार्य श्री जी की सेवा मे कुचेरा आया। उसने सारी स्थिति की जानकारी दी और निवेदन किया कि ऐसी स्थिति में सम्मेनल के लिये आप किसी अन्य क्षेत्र का सुझाव दें। आचार्य श्री जी ने फरमाया कि किसी अन्य क्षेत्र के लिये मैं तो नही कह सकता क्योंकि मैंने तो लुधियाना के लिये परामर्श

दिया था और मैं वहां पहुंचने की कोशिश करुंगा। बाद में प्रधानमंत्री श्री आनन्द ऋषि जी म. सा. ने इन सब बातों पर गौर करके भीनासर क्षेत्र का निश्चय किया।

वहां सम्मेलन मे (पुरानी) सभी सम्प्रदायो के प्रतिनिधि उपस्थित हुए। उसमे सुझाव दिया गया कि चौथे पद का होना भी आवश्यक है। इस पर चार उपाध्यायों का चयन हुआ–सर्व श्री आनन्द ऋषि जी म. सा., हस्तीमल जी म सा., प्यारचन्द जी म. सा., तथा अमरचन्द्र जी म. सा.। आचार्य श्री जी ने इस चयन की घोषणा कर दी। इसके बाद ज्वलन्त प्रश्न ध्वनिवर्धक यन्त्र के उपयोग का आया जिस पर मुनिराजों ने खुलकर चर्चा की। उस चर्चा से स्पष्ट हुआ कि इस प्रश्न पर दो समूह हैं–एक तो इस यन्त्र के उपयोग का समर्थन समूह तो दूसरा शास्त्रीय दृष्टि मे उपयोग का विरोध करने वाला समूह। कहा गया कि यदि ध्वनिवर्धक यत्र का प्रयोग मुनिधर्म के अनुकूल हो तो कोई आपत्ति नही है—आगमों के निर्देशो के अनुसार ही रहना और कार्य होना चाहिये। शास्त्रो मे विद्युत की अचित्तता के बारे मे एक भी शब्द नही है। विद्युत् को सचित्त ही वताया गया है।

ध्वनिवर्धक यन्त्र के प्रयोग का प्रश्न

आचार्य श्री राजेन्द्र सूरी जी ने चालीस पडितों के सहयोग से जैन वाग्मय पर एक सम्मेलन किया था जिसके निष्कर्ष के रुप में वृहदाकार ग्रन्थ राजेन्द्र कोष के नाम से तैयार हुए। इनमे वताया गया है कि बादर तेउकाय दो प्रकार की होती है–व्यवहार और निश्चय से। खीरा–अगारा आदि अग्नि व्यवहार से बादर तेउकाय है और भट्टी के भीतर की आग एवं विद्युत् आदि निश्चतत तेउकाय हैं। ये दोनों प्रकार की तेउकाय सचित्त होती है। जहा विद्युत् का प्रयोग होता है, वहा तेउकाय की हिंसा होती है। वर्षा मे जो विजली चमकती है, वह भी विद्युत तेउकाय होती है जिसके नीचे छातेआते छ काया की हिंसा हो जाती है।

आचारांग सूत्र मे तेउकाय के प्रकरण मे इस विद्युत को दीर्घ लोक शास्त्र कहा है। दीर्घलोक का अर्थ वनस्पति है। अग्नि

सूखी लता पत्तियों को तो जलाती ही हैं, पर हरी को भी जला देती है। शास्त्र में कहा है—'जो दीह लोग्रस्स खेयन्ने से असत्थास्स खेयन्ने, जे ग्रस्सत्थस्स खेयन्ने से दीह लोग्रस्स खेयन्ने' अर्थात् जो दीर्घ लोक शास्त्र को जानता है, और वह संयम को जानता है और जो संयम को जानता है, वह दीर्घ लोक शास्त्र को जानता है।

उस समय सभी मुनिराजों ने इस विद्युत को सचित्त रूप में स्वीकार किया और यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया 'ध्वनिवर्धक यन्त्र मे बोलना मुनि धर्म की परम्परा मे नही है। अगर यह बोलना पडे तो प्रायश्चित लेना होगा। 'पड़े तो' का तात्पर्य यह है कि वहा पर मुनि की विवशता होनी चाहिये। श्रावक अथवा जनता की प्रेरणा विवशता नही होती, लेकिन जहा जीवन खतरे मे पडता हो, वहा विवशता की स्थिति होती है और उसे अपवाद मार्ग कहते हैं जिसकी व्याख्या है—उपसर्गादि परिभूयस्स अपवादगमनम्। सयमी जीवन की वृत्तियो को ठीक तरह से सचालित करना चाहिये। यदि किसी ऐसी स्थिति मे जिसमे प्राणान्त का प्रसंग हो तो वहा यदि नियमो का पालन नही हो पा रहा है और नीचे उतरना पड रहा है तब वहा अपवाद मार्ग गमन होता है किन्तु उसका प्रायश्चित बताया गया है। एक मुनि मौन रखता है उपदेश नही देता है तो जीवन मे खतरा पैदा नही होता। खतरा कहा पैदा होता है? वहां जहा वर्षा की बारीक बारीक बूंदे पड रही हो और उनमे से होकर व्याख्यान देने का प्रसग हो तो वहां पर जीवन (अपकाय का) का खतरा होता है अतः उन बूंदो मे से गुजर कर व्याख्यान देने के लिये जाने का प्रसग नही रहता है। इसी प्रकार गोचरी भिक्षा के लिये जाने का भी प्रसग नही रहता है। समझिये कि दो तीन दिन या कभी सप्ताह तक भी वर्षा की झडी लगी रहती है, तब भी अपकाय के जीवन के खतरे को देखते हुए आहार पानी लेने के लिये उसमे नही जाया जाता है। सोचना चाहिये कि उससे सहज ही तपस्या हो गई। किन्तु इसमे लघुशका या दीर्घशका को नही रोकते हैं। कहा है—वच्च मुत्तं न धारए। मूसलाधार वर्षा हो रही हो तब भी लघुशंका या दीर्घशका के वेग को न रोकें। इनकी निवृत्ति हेतु तो उस मूसलाधार वर्षा मे भी जाया जा सकता है। अन्यथा सयमी जीवन खतरे मे पड जायेगा। तो यह सब

पवाद मार्ग है। 'पडे तो' की व्याख्या इसी सदर्भ मे समझी जानी ाहिये। इसी कारण उक्त प्रस्ताव मे आगे कहा गया है कि मुनि-ण ध्वनिवर्धकयन्त्र का स्वच्छन्दता से प्रयोग न करे।

वह पूरा प्रस्ताव इस प्रकार था—'ध्वनिवर्धक यन्त्र मे बोलना मुनिधर्म की परम्परा मे नही है। यदि अपवाद रूप मे बोलना पड़े तो उसका प्रायश्चित लेना होगा किन्तु उसका स्वच्छदता से प्रयोग नही करना चाहिये।' इस प्रस्ताव के लिये तीन मत कम रहे—दो तो तटस्थ रहे और एक विरोध मे। मेरे पास दो मत थे–एक मत श्री लालचन्द जी म.सा. का विरोध मे था। वह प्रस्ताव पारित तो हो गया लेकिन एक भी मुनिराज वहा पर बोले नही। इसके पारित होने के बाद लुधियाना मे सन्तो ने ध्वनिवर्धक यन्त्र का प्रयोग किया जबकि उक्त प्रस्ताव की वाक्यावली वहा पहुची भी नही थी। आचार्य श्री आत्माराम जी म.सा. के पास रहने वाले सन्तो ने यन्त्र का खुलकर प्रयोग किया। इधर कवि श्री अमरचन्द जी म.सा. द्वारा सूचना पहुंचने के पहले ही उनके सन्तो ने भी यन्त्र का प्रयोग किया। इधर कवि श्री अमरचन्द जी म.सा. द्वारा पहुचने के पहले ही उनके सन्तो ने भी यन्त्र का प्रयोग किया। इस सम्बन्ध में अन्य सन्तो के पास से सूचना प्राप्त हुई। सभी के समक्ष यह बात रखी गई। वहा चारों उपाध्याय मूर्धन्य सन्त मुनिराज उपस्थित थे। उन्होने उस प्रस्ताव की लिखित वाक्यावलि आचार्य श्री के पास लुधियाना भिजवाई। वहां से बाद मे उत्तर आया कि आप सभी आपस मे मिलकर वाक्यावली के आशय को स्पष्ट करें। तब तक सन्तो का विहार हो गया था। उत्तर दिया गया कि निकट में सब सन्तो के आपस मे मिलने को स्थिति भी नहीं है। जब तक मिलकर कुछ निर्णय नही लिया जाय तब तक कोई ध्वनिवर्धक यन्त्र का प्रयोग नही करे और यदि कोई करेगा तो वह स्वच्छन्दता होगी एव दीक्षा-छेद का प्रायश्चित आयगा।

तात्पर्य यह कि दीक्षा-छेद के प्रायश्यिचत के कारण वह सन्त अन्य छोटे सत से छोटा हो जायगा और उसे उस बड़े होने वाले सत की वन्दना करनी होगी। यह व्यवस्था सर्वानुमति से दी गई और इसकी सूचना लुधियाना भी पहुंच गई। आचार्य श्री आत्माराम जी म.सा. ने लिखवाया कि जो सत माईक मे बोले हैं, उनको मैं प्राय-

श्चित दूंगा। अमर मुनिजी का भी इसी प्रकार का अभिप्राय आया। श्री सुशील मुनिजी ने उस समय दिल्ली में हो रहे सर्व धर्म सम्मेलन के प्रसग पर इस यन्त्र का प्रयोग किया। इस पर पजाब प्रान्त के मन्त्री मुनि श्री प्रेमचन्द जी म सा. ने उनको सूचित किया कि आपने स्वच्छन्द रूप मे इस यन्त्र का प्रयोग किया है, अत: छेद प्रायश्चित लेना चाहिये। वे इसके लिये तैयार भी हो गये। किन्तु लुधियाना में इस प्रसग की जानकारी जब श्री ज्ञान मुनि जी को हुई तो उनके पास से एक पत्र श्री सुशील मुनिजी के पास पहुंचा कि वे प्रायश्चित् नहीं लेवें। इस पर वे रुक गये। प्रान्त मन्त्री श्री प्रेमचन्द जी म.सा. ने उनसे फिर कहा कि यह श्रमण संघ का प्रश्न है अत: उसके संकेत का प्रयत्न करना चाहिये। अन्यथा जो प्रायश्चित नही लेगा, उसके साथ श्रमणोचित व्यवस्था नही रखी जा सकेगी। प्रस्ताव की वाक्यावली सामने है। जब सुशील मुनिजी नही माने तो उनके साथ उन्होने सम्बन्ध विच्छेद कर दिया। तब इस प्रकार श्रमण सघ का यह पहला विभाजन (टुकड़ा) दिल्ली में हुआ।

महाव्रत से सम्बन्धित मामला

दूसरा प्रसग महाव्रत से सम्बन्धित था, जो उस समय सामने आया। श्री फिरोदिया साहब, चिमनभाई चकूभाई शाह आदि संघ नायको के हृदय में इस महाव्रत–काड से क्या कुछ हुआ–यह सब अति विस्तृत चर्चा है जिसे मैं अभी समयाभाव के कारण अति सक्षेप में ही कहूंगा। उपाध्याय एव मत्री मुनिराजो ने क्या क्या पत्र दिये और उन पर क्या क्या कार्यवाही हुई–उस पर जावरा में जब सब नेता गण उपस्थित हुए तब विस्तार से चर्चा हुई थी। आचार्य श्री गणेशीलाल जी म सा ने फरमाया था कि समाज की ओर से जो व्यक्ति कार्य करता है उसके पास सारी कार्यवाही लिखित रूप में पड़ी हुई है–सन्त तो अपने हाथ से लिखते नही हैं, आप उस लिखित कार्यवाही को पढ ले।

तीन दिन तक सारी कार्यवाही देखने के बाद उन्होने आचार्य श्री जी से कहा कि आपने शुद्ध जनतंत्र की पद्धति से कार्य किया है। आचार्य श्री आत्माराम जी म. सा. को तो पढ़ दिया गया था।

फिरोदिया भाऊ साहब ने कहा कि मै तो वहा उपस्थित था और धीरजभाई भी अन्दर ही थे। उन्हे ऐसा करने का कोई अधिकार नही था। पत्र व्यवहार करेगे तो उनके पास सीधा नही पहुचेगा। तब उसकी नकल लेकर शिष्ट मण्डल लुधियाना गया। वहा क्या-क्या स्थिति बनी—यह सारा प्रसग कभी समय के अनुसार प्रसगोपात रखा जा सकता है।

गुरुदेव की अपूर्व गरिमा—

श्रमण सघ के सगठन एव विघटन का यह सारा विवेचन मैंने इस हेतु से किया है कि इसमे गुरुदेव की अपूर्व गरिमा का परिचय मिलता है। गणेशाचार्य देव ने अपने जीवन की अतिम अवस्था मे भी किस प्रकार एक तरुण का रूप धारण किया तथा किस प्रकार निग्रंथ श्रमण सस्कृति की सुरक्षा हेतु उत्क्राति का चरण उठाया—इससे द्योतन होता है कि जैन आचार एव सघ ऐक्य के प्रति उनकी अटूट निष्ठा थी। यह भी स्पष्ट है कि गुरुदेव की निर्लिप्त भावना अत्युच्च थी। पद ग्रहण करने के लिये भी एक प्रकार से सभी ने उन्हे बाध्य कर दिया था किन्तु तब भी उन्होने अपने इस निश्चय को सुदृढ बनाये रखा कि सादडी सम्मेलन के सर्वानुमत उद्देश्यो एव तत्सम्बन्धी नियमो का पूर्णरूपेण पालन हो। उन्होने स्पष्ट घोपणा की थी कि श्रमण सस्कृति की सुरक्षा हेतु सबके सब सन्त कटिबद्ध हो जाय, तो मैं पीछे नही रहूगा और मेरे बाद मै जिसे अपना पद सौंप रहा हू वह भी तैयार रहेगा-इस प्रकार मेरे लिये भी गुरुदेव ने सकेत दे दिया था ऐसे उद्गार आचार्य देव ने फरमाये थे। उन्ही पावन उद्गारो के अनुपालन मे ही आज भी वही सब कुछ चल रहा है। शिक्षा, दीक्षा, चातुर्मास, विहार, प्रायश्चित आदि की जो सूचनाए यहा से प्रसारित की जाती है, उनके अनुसार ही सब कार्य हो रहा है। उस समय आचार्य देव को जितने साथी मिले उनके बीच मे अमली रूप दिया जा रहा है।

आचार्य देव ने अपने अन्तिम जीवन की किस प्रकार साधना की—यह समयाभाव से नही कह पा रहा हू किन्तु सब जानते है कि जिस अपार धैर्य एव कष्ट सहिष्णुता का उन्होने जो परिचय दिया

उसमें स्पष्ट हो गया था कि वे सयम साधना की कितनी उच्चकोटि में चल रहे थे ।

गुरुदेव के क्रांतिकारी जीवन का प्रमुख सार यही है कि चतुर्विध सघ अपने सभी प्रकार के प्रयत्नों से निग्रंथ श्रमण संस्कृति की सुरक्षा करे तथा उसे किसी भी प्रकार की स्वच्छन्दता या क्रिया शिथिलता से स्वरूप-क्षति न पहुचने दे । मूल यदि सुरक्षित रहेगा तो उसकी शाखा–उपशाखाए तथा उसके पत्र पुष्प भी हरे-भरे और सुगध प्रदायक रह सकेंगे ।

दि. २४-७-१६८६



आत्मा ही परमात्मा

श्री श्रेयास जिन अन्तर्यामी..........

भगवत् वचन का रहस्य समझने के लिये भगवत् स्वरूप को सम्मुख रखकर ही उसकी विवेचना करना यह भारतीय सस्कृति की अनुपम परम्परा है। इस विश्व मे श्रेष्ठतम तत्त्व, आत्मा का श्रेष्ठतम स्वरूप, परम शाति एव परम सुख का भण्डार यदि कोई है तो वह भगवत् स्वरूप ही है। भगवत् स्वरूप को धारण करके आत्मा ही परमात्मा बन जाती है।

ऐसे परमात्मा का स्मरण करें-उसका नाम जपें या उसकी स्तुति करे—यह भक्त के भावो पर निर्भर है। कभी-कभी मानव परमात्मा के स्तुति-गान मे तन्मय बनकर भी आशका कर बैठता है कि भगवान् तो अन्य स्थल पर हैं-हमसे बहुत दूर हैं, फिर हमारी स्तुति वे भला कैसे सुन पायेंगे, हमारी आवाज उन तक कैसे पहुचेगी ? भगवान् यदि सामने होते तो वे हमारी स्तुति को स्वय सुनते और हमारी भक्ति भावना से प्रसन्न हो उठते। वह यह भी सोचता है कि जो भगवान् के गुणो का स्तुति-गान नही करता है अथवा उनकी निंदा करता है तो भगवान् उससे कुपित हो जाते हैं।

मूल जीवन की नैतिकता पर टिका हुआ होता है। यदि नैतिकता की शिक्षा प्रारम्भ से दी जावे तो आज के बालको और कल के नागरिको का जीवन सहयोगमय तथा त्यागमय बन सकता है और उससे सारे राष्ट्र या समाज के वातावरण मे एक नया उन्नतिकारक परिवर्तन लाया जा सकता है। नैतिक जीवन की आधारशिला पर एक जागरुक राष्ट्र का निर्माण हो सकता है।

आध्यात्मिक तत्त्वो को भली प्रकार मे तभी समझा जा सकता है जब पहले से नैतिक शिक्षा प्राप्त की जा चुकी हो तथा जीवन व्यवहार मे नैतिकता का प्रयोग किया जाता रहा हो। यदि ऐसे विद्यार्थी या तरुण धर्मस्थान पर आकर आध्यात्मिक तत्त्वो को जानने की जिज्ञासा प्रकट करते हैं तो उन्हे शास्त्रीय परिभाषाए बहुत आसानी से समझाई जा सकती हैं। शास्त्रो की ये परिभाषाए प्राकृत भाषा में है परन्तु उनकी सस्कृत मे टीकाए भी हैं तथा हिन्दी मे भी उनका अनुवाद या विश्लेषण होने लगा है। मुख्य बात है उस विषय को समझने की रुचि होनी चाहिये। ऐसी रुचि होने पर ही आध्यात्मिक सिद्धातो को जीवन मे उतार लेने की निष्ठा का विकास होता है। इसलिये धर्मस्थान मे आकर प्रवचन सुनने के साथ-साथ घर पर स्वाध्याय की प्रवृत्ति भी प्रोत्साहित की जानी चाहिये जिससे अपने घर के बालको को आध्यात्मिकता का यथासाध्य परिचय मिल सके। प्रतिदिन यदि यह प्रवृत्ति चलाई जाती है तो सस्कार विकास के साथ ज्ञानवर्धन भी होता रहेगा।

आन्तरिकता का स्वामी कौन ?

कवि ने उपरोक्त प्रार्थना करते हुए उसमे निहित आदर्श का भी सकेत दिया है—

'श्री श्रेयास जिन अन्तर्यामी आतमरामी नामी रे।'

हे भगवान् आप अन्तर्यामी हैं याने भीतर के स्थान अर्थात् आत्मा के स्वामी है तभी तो नामी आतमरामी है। अब सोचिये कि आपकी आन्तरिकता अर्थात् आत्मा का स्वामी कौन है ? क्या श्री

है किन्तु जब वह अपने स्वय के मूल स्वरूप को समझती है और उसे प्राप्त करने के प्रयास मे जिस प्रकार अपनी आन्तरिकता मे विचरण करने लगती है तब वह अन्तर्मुखी कहलाती है और उसकी वह गति आध्यात्मिकता के नाम से जानी जाती है ।

क्या आध्यात्मिक, क्या भौतिक ?

कवि आनन्दघन जी परमात्मा की इस प्रार्थना मे आध्यात्मिक भाव को सम्बोधित करते हुए कहते है कि आध्यात्मिकता क्या है और भौतिकता क्या है ?

हमारे भीतर ज्ञानवान तथा शक्ति सम्पन्न आत्मा है । इस आत्मा के शरीर मे रहते हुए सभी प्रकार के कार्य किये जा सकते है। वस्तुत यह आत्मा ही है जो परमात्मा की प्रार्थना कर रही है और आत्मा ही अपना निज का तथा परमात्मा का स्वरूप नही समझने के कारण परमात्मा की निन्दा भी करती है अत आत्मा के इस आन्तरिक स्वरूप को समझना, मूल स्वरूप को महसूस करना तथा उस स्वरूप को प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ-रत होना ही आध्यात्मिकता है । आत्मा के अधि याने उन्मुख होना आध्यामिकता है । आत्म-स्वरूप की ओर उन्मुख बनना—यह आध्यात्मिक जीवन का श्रीगणेश माना जाता है ।

बाहरी पदार्थो की समझ तो आत्मा को अनादिकाल से चली आ रही है, बल्कि वह निज स्वरूप से विस्मृत बनी इसी भौतिकता मे रमण कर रही है । इस लकडी के पाटिये को समझना या विमान को समझना—यह सब भौतिक तत्त्वो को समझना है । मनुष्य जब से जन्म लेता है, तब से इन्ही पदार्थो एव दृश्यो को समझने की कोशिश करता रहता है । इजिनियरिंग पास की, वकालात पास की और भौतिक विषयो के ज्ञान की कई डिग्रिया ले ली, लेकिन यह किसलिये किया ? क्या किसी विद्यार्थी को किसी कॉलेज ने कभी आध्यात्मिक जीवन को समझ लेने की कोई डिग्री दी है ?

सच पूछे तो जन्म से और बचपन से ही बालक को आध्यात्मिक सस्कार एव ज्ञान दिया जाना चाहिये क्योकि आध्यात्मिकता का

श्रेयासनाथ भगवान् है ? नही, अपनी आत्मा के स्वामी आप स्वय हैं। आत्मा ही उसकी स्वामी है और आत्मा ही अन्तर्यामी होकर आतमरामी बन सकती है। भगवान् को हम स्वामी मानकर जो चलते हैं उसका भी एक विशेष प्रयोजन है और वह यह कि हमारे भीतर अहकार का जन्म न हो क्योकि ज्ञान की न्यूनता मे स्वय को सर्वशक्ति सम्पन्न समझकर सही दिशा की अपेक्षा गलत दिशा मे मुड जावे तो अभिमान आ सकता है—अह पैदा हो सकता है। इस कारण परमात्मा की प्रार्थना के माध्यम से हम अपने सारे अभिमान को अपने हृदय से बाहर कर दे। परमात्मा का आदर्श सामने रखने से आत्मा सरलतापूर्वक अपने सच्चे विकास के मार्ग पर अग्रसर बनी रह सकती है।

भगवान् का जैसा भव्य स्वरूप होता है, वैसा स्वरूप हमारे भीतर मे भी विराजमान है। कमी इसी बात की है कि हम उसे पहिचान नही पा रहे हैं। उस भव्य स्वरूप तथा हमारी पहिचान के बीच मे कुछ पर्दे पड़े हुए हैं और वे पर्दे स्वरूप-दर्शन मे बाधा बने हुए हैं। यह समझिये कि यह शरीर भी एक पर्दा है और तीन शरीरो का एक साथ अस्तित्व भी एक पर्दा है। इन तीनो शरीरो के भीतर एक द्रव्य मन है तथा पाच इद्रिया है। इन पाच इद्रियो को तो अधिकाश भाई-बहिन पहिचानते हैं क्योकि इन्ही से नित-प्रतिदिन का सारा काम लिया जाता है, लेकिन मन की पहिचान बहुतो को कम हो सकती है। ये पाचो इद्रिया मन की प्रेरणा से ही अपना कार्य करती है। सिनेमाघर मे नई फिल्म लगती है तो मन कहता है कि देखने चलो—तब पैर उस तरफ चलते हैं और भीतर जाकर आखे फिल्म देखती है। किसी जरूरी काम से फिल्म देखने के लिये जाना न भी हो सके तब भी मन फिल्म मे लगा रहता है। आजकल तो घर-घर मे टी.वी का प्रचलन बढ गया है। उसमे भी कोई फिल्म आ रही होती है तो मन उधर लगा रहता है या नही ? घर मे पिताजी बीमार हो और माताजी दवा लाने के लिये कहती है तब भी मन टी वी मे लगा रहता है। एक मन कहता है कि टी वी मे फिल्म पूरी हो जायगी तब जाकर दवा ले आऊगा। वह यह भी सोचता है कि दवा लाने मे देर कर देने से पिताजी की बीमारी मे स्थिति बिगड सकती है, इसलिये सेवा का काम पहले किया जाना चाहिये। पिताजी की तबियत ज्यादा खराब

हो गई तो लोग भी क्या कहेगे ? इस प्रकार मन में चलने वाले दोनों प्रकार के विचारो का द्वन्द खडा हो जाता है ।

मन का यह द्वन्द निर्णय को विलम्बित कर देता है कि पहले क्या किया जाना चाहिये । इस मन को भी चलाने वाली आत्मा होती है । यदि वह सावधान होती है तो मन को सुविचार देती है कि सब कुछ छोडकर पहले दवा लेने चले जाओ, क्योकि कर्त्तव्य की बात वही है । यदि आत्मा सोई हुई होगी और सुसस्कारो से अनुप्राणित नही होगी तो मन की मनमानी चल जायगी ।

इद्रिया, मन और आत्मा की यो मानें कि एक कडी होती है । आत्मा मन को साधती है याने कि अपने नियत्रण मे रखती है तो मन तदनुसार इद्रियो को प्रेरित करता है । यह बीच की कडी मन की कडी बडी प्रबल होती है । अगर आत्मा असावधान हो जाती है तो मन इन्द्रियो को भी अपनी मनमानी दिशा में लेकर चला जाता है जो मूलत आत्मस्वरूप के लिये हानिप्रद होती है । सन्त आप लोगो को सामायिक करने की जो प्रेरणा देते हैं उसमे भावना यही रहती है कि सामायिक की साधना के द्वारा मन को नियत्रित एव सयमित बनाने का अभ्यास किया जाय । इस अभ्यास से आत्मा की असावधानी दूर होती है ।

आत्मा, मन और इन्द्रियो की कड़िया—

सामायिक की साधना के समय मे भी मन के क्रिया-कलाप समझने लायक होते है । सन्तो ने आपको सामायिक का व्रत दिया, आप ने ले लिया और सामायिक करके भी बैठ गये, लेकिन कई लोग महसूस करते है कि मन नही लग रहा है । मन भीतर मे तरह-तरह की उथल-पुथल मचाता रहता है और उसे आप रोक नही पाते, तब सामायिक मे मन लगेगा कैसे ? यहां पर भी मन का द्वन्द पैदा हो जाता है । 'यह करू कि वह करू' की दोहरी विचारणा चलने लगती है ।सामायिक का साधक कभी सोचता है कि भगवान् का एकाग्र होकर ध्यान करू । वह आखे बन्द करके प्रयत्न भी करता है । किन्तु तभी उसके घर की तिजोरी उसके सामने दिखाई देने लगती है और मन घर-बाजार मे दौड जाता है । ऐसी दुविधा का आपको नित प्रति अनुभव होता होगा ।

इस दुविधा की पृष्ठभूमि मे ही मन की गति का रहस्य समझा जाना चाहिये । आत्मा अपने स्वरूप की ओर गति करना चाहती

है किन्तु मन अपने अभ्यास के कारण वाहर ही वाहर दौड लगाना चाहता है और अपने साथ पाचो इन्द्रियो को भी दौडाना चाहता है। यह दुविधा या द्वन्द भी आत्मा की यत्किचित् जागरुकता के कारण ही पैदा होता है। इस द्वन्द से उबरने तथा सही निर्णय लेने का एक ही उपाय है कि आत्मा की इस यत्किचित् जागरुकता में निरन्तर वृद्धि की जाय तथा आत्मा की आवाज को ही प्रमुखता दी जाय। मन जहा पर द्वन्द उत्पन्न करे, वहां उस द्वन्द मे आत्मा अपने पक्ष का समर्थन करके उसके अनुसार निर्णय लेले और मन तथा इन्द्रियो को वैसा ही करने का आदेश देदे। तव इन कडियो मे आत्मा की प्रवलता तथा नियत्रकता सर्वोच्च रूप से स्थापित हो सकती है।

आप लोगो का अदालतो मे जाने का काम पडता होगा। किसी मुकदमे में दो पक्ष होते है—अपने-अपने वकील अपने-२ पक्ष के समर्थन मे दलीले देते है और न्यायाधीश उन्हे सुनता है। उन पर अपनी अन्तश्चेतना के साथ वह विचार करता है और उसे जो सही लगता है, वैसा वह निर्णय दे देता है। आत्मा को भी इसी रूप मे न्यायाधीश का कार्य करना चाहिये। मन के द्वन्दो मे उसे अपने मूल स्वरूप की दृष्टि से निर्णय लेन चाहिये। ऐसी निर्णायक शक्ति आत्म विकास को समुज्ज्वल बना देती है। इसी से इद्रियो, मन तथा आत्मा की कड़ियां एकरूप बन जाती है तथा तीनो के सयुक्त वल से साधना का वल प्रवल बन सकता है।

एक उदाहरण ले। एक बालक को कही से बीस रुपये मिले। वह सोचता है कि इन रुपयो से पढाई की कोई किताव खरीदू या जूते खरीदू। अदर से आवाज आई कि देख, जूते तो कुछ समय तक नही मिले तव भी काम चल जायगा लेकिन किताव अभी ही नही खरीदी गई तो पढाई खराव होगी, इसलिये इन रुपयो से पहले किताव ही खरीद ले। उसने किताव खरीद ली। यह हुई सही निर्णायकशक्ति जो भीतर की आवाज का यथारूप पालन करने से प्राप्त होती है। इसे सद्‌बुद्धि कहते हैं, लेकिन इसे भी समझना और भीतर खोजना है। यह शक्ति प्रत्येक व्यक्ति के पास रही हुई है लेकिन वह उसे खोजता नही और पहिचानता नही।

यदि इस निर्णायक शक्ति या सद्‌बुद्धि के लगातार प्रयोग का अभ्यास बनाया जाय तो जीवन व्यवहार में इसे स्थायित्व मिल सकता है। यह अभ्यास ही दो घडी का अभ्यास सामायिक के रूप मे बताया गया है ताकि यह अभ्यास पुष्ट बन कर प्रतिदिन के कार्यकलापो मे प्रभावकारी हो जाय। इस भीतर की शक्ति से सभी परिचित हो सकते है क्योकि जहा अपाय है, वहा उपाय भी होता है।

आत्म शक्ति महात्म्य-

आत्मा अपार शक्तियो की धनी होती है। ज्ञान दर्शन एव चारित्र्य की सर्वोच्च शक्तिया इसके भीतर भरी हुई हैं किंतु उन्हे स्वय आत्मा ही नही देख पा रही है—उसकी मुख्य बाधा पर्दे है। यह शरीर का पर्दा या दूसरे पर्दे कर्मों ने खडे कर रखे है। इन पर्दों को हटाना और अपने ही स्वरूप का स्वय दर्शन कर लेना—यही आत्म शक्ति का सर्वोत्तम प्रयोग है और यही उसका महात्म्य भी है।

इस जीवन का यह स्थूल शरीर तो यही छूट जायगा और आत्मा अपने सूक्ष्म शरीरो के साथ नया शरीर धारण कर लेगी। इन सूक्ष्म शरीरो मे ही जो कार्मण शरीर होता है वह कृत कर्मों का पुंज ही होता है जिसकी शुभाशुभता के फलस्वरूप ही आत्मा भिन्न-भिन्न जन्मो मे भिन्न-२ शरीर धारण करती है। इसमें किसी का प्रश्न हो सकता है कि चीटी और हाथी के शरीरो के अनुसार आत्मा छोटी बडी कैसे हो जाती है ? आत्म प्रदेशो मे सकोच और विकास की शक्ति रही हुई होती है। छोटे शरीर मे आत्म प्रदेश सकुचित हो जाते हैं तो वडे शरीर मे वे तदनुरूप फैल जाते है। आप कहेगे कि ऐसा कैसे हो सकता है ? हो सकता है जिसे एक दृष्टात से समझे। एक हजार वॉट का बल्ब होता है उसे मैदान मे लगा दिया जाय तो उसका प्रकाश बडी दूर-दूर तक फैल जायगा। उसी बल्ब को यदि एक छोटे से डिब्बे मे ढक दिया जाय तो क्या उतना सारा प्रकाश उस छोटे से डिब्बे में सकुचित नही हो जायगा ? इसे छोटे-बडे ढक्कन के मुताबिक घटाया या फैलाया जा सकता है। उसी प्रकार आत्मा भी सभी प्रकार के शरीर धारण कर सकती है।

अमित शक्तियो की धारक होने के बाद भी पर्याप्त ज्ञान का अभाव है कि आत्मा अपनी ही शक्तियो से अनभिज्ञ है। अनभिज्ञता की स्थिति में वह उन शक्तियों के सुप्रयोग से भी वंचित है। उसका ज्ञान और उपयोग जागृत नही हो रहा है, इसी कारण अज्ञान व अकृति के अधकार मे वह भटक रही है। कर्मों के पर्दों या कि आवरणो के नीचे उसकी सारी शक्तिया दबी पडी है जिसकी वजह से वह सशक्त होते हुए भी अशक्ति की पीडा से कराह रही है। उसकी शक्तियों को पहिचानना और प्रकट करना यही उसके महात्म्य को प्रकाशित करना है।

अनन्त सूर्यों का प्रकाश इसी आत्मा में है–

श्रीमद् मानतु गाचार्य जी ने भगवान् ऋषभदेव को स्तुति करते हुए भक्तामर स्तोत्र में कहा है—सूर्यातिशायी महिमासि मुनी नुलोके, अर्थात्—हे भगवन्, आपके ज्ञान का प्रकाश इतना है कि उसकी बराबरी अनन्त सूर्य मिलकर भी नही कर सकते हैं। अनन्त सूर्यों के प्रकाश से भी अधिक प्रकाश-यह कहा कहा हुआ है ? आत्मा के भीतर क्या वह ऋषभदेव भगवान् की आत्मा के भीतर ही था या अन्य आत्माओ मे भी वह होता है ? भगवान् ने उस ज्ञानालोक को सुप्रकट कर दिया था किन्तु उसका अस्तित्व तो सभी आत्माओ में है—हमारी आत्माओ में भी है। उस आलोक को प्रकट करने के प्रति कितना ध्यान है ? अनन्त सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान उस केवल ज्ञान की आपको ललक नही है ? ललक है तो उसके अनुरूप प्रयास कहा है ?

जैसे हजार वॉट का बल्ब खुला है तो अपनी रोशनी दूर-दूर तक फैलाता है लेकिन उसको अगर छोटे से डिब्बे मे ढक दिया जायगा तो उसके प्रकाश का अस्तित्त्व तक किसी को दिखाई नही देगा। यह डिब्बा है ज्ञानावरणीय कर्म जिसमें आत्मा का अमित प्रकाश बन्द होकर ओझल है। इस आच्छादन को दूर करने के प्रयास करने की आवश्यकता है। यही देखना है कि वैसे प्रयास कितने अ शो मे तथा कितनी लगन के साथ किये जा रहे है ? लेकिन जो भव्य आत्मा एक लगन के साथ आध्यात्मिक क्षेत्र में गति करना आरम्भ कर देती है,वह सच्चे आनन्द का अनुभव भी करने लग जाती है। फिर वह आध्यात्मिकता

की साधना से वल्व को ढकने वाले डिब्बे को तोड देती है। उससे ज्ञानावरणीय कर्मों का आच्छादन हटने लगता है और आत्मा का ढका हुआ अनन्त प्रकाश शनै-शनै प्रकट होने लगता है। यही प्रकाश जब सम्पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है तथा सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित कर देता है तव उस अलौकिक प्रकाश की धारिणी आत्मा ही स्वय परमात्म स्वरूप का वातावरण कर लेती है। आत्मा हो परमात्मा हो जाती है।

आत्मा का अस्तित्व इसी जीवन में नही होता वल्कि अपने शाश्वत स्वरूप के साथ वह इस ससार में अनादिकाल से भ्रमण कर रही है। पूर्व जन्म और पुनर्जन्म की शृंखला में यह चल रही है एव तब तक चलती रहेगी जब तक यह अपने सम्पूर्ण मूल स्वरूप को प्रकाशित करके देह मुक्ति नही पा जाती है। पूर्णजन्म और पुनर्जन्म—ये आत्मा की निरन्तरता को प्रकट करते हैं। इन वर्षों में कई मामले सामने आये हैं, जिनमे छोटे-छोटे वालको ने अपने पूर्णजन्म की बातो पर रोशनी डाली है और जाच करने पर वे बातें सत्य पाई गई हैं। आप कहेगे कि ऐसा ज्ञान सबको क्यो नही होता है? हकीकत में पहिले के जन्म का ज्ञान सभी को होता है परन्तु इस जीवन के दृश्य ज्यो-ज्यो सामने आते जाते हैं, वह विस्मृति के गर्भ मे चला जाता है, पालने में झूलते हुए बालक को आपने देखा होगा—वह अनायास ही कभी हसता है तो कभी रोता है या कभी कई प्रकार की आकृतियां बनाता है। यह प्रतिक्रिया पूर्व जन्म की यादो की ही होती है जिसे वह बाद में भुला देता है किन्तु किन्ही प्रखर बालकों को वे यादें याद रह जाती हैं जिन्हे वे बाद मे बता देते हैं। ऐसी परिस्थितियो के सामने आने से आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध नही होता वल्कि उसकी निरन्तरता भी सिद्ध हो जाती है।

अत देहरी-दीपक के न्याय के अनुसार इस वर्तमान जीवन मे प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति को अपनी आत्मा के आच्छादित दिव्य प्रकाश को प्रकट करने का पुरुषार्थ दिखाना चाहिये क्योकि इसी पुरुषार्थ की सर्वोच्च सफलता पर ही आत्मा का परमात्मा वनना सम्भव होता है।

अपनी आत्मा का चिन्तन भी करें और आलोचना भी—

चिन्तन का अर्थ है स्वरूप चिन्तन। क्योकि जब तक आत्मा के मूल स्वरूप का चिन्तन करके उसे पहिचान नही लेगे तब तक उसे

प्राप्त करने की विधि भी स्पष्ट नही हो सकेगी । मूल स्वरूप को प्रकट करने के प्रयासो मे भूले होना सम्भव है, इस कारण अपनी आत्मा की आलोचना भी आवश्यक है । जो कुछ किया जा रहा है, उसके गुण दोषो की समीक्षा करके ही आगे के प्रयासो को अधिक शुद्ध और अधिक दृढ बना सकते है । प्रतिक्रमण की क्रिया आत्मालोचना की ही प्रतीक है ।

आत्मा का स्वरूप कैसा है ? आत्मा के ये लक्षण हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य तथा उपयोग । जो आत्मा है, वह ज्ञानवाली होने से विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वह आत्मा है । जिस ज्ञान द्वारा वह स्वय को भी जानती है, वह आत्मा है । ज्ञान की विविध परिणतियो की अपेक्षा से भी आत्मा को उस-उस रूप से जानते हैं । इस प्रकार ज्ञान और आत्मा की एकता को जानना ही आत्वाद है । यह आत्मा ही अपने सुख-दु ख की कर्त्ता और विकर्त्ता हैं तथा स्वय ही अपनी शत्रु और मित्र है । सद्विचार और सदाचार मे निरत रहती हुई आत्मा सुख देती है व दु.ख दूर करती है—वह स्वय की भी मित्र होती है तथा अन्य प्राणियो की भी मित्र होती है । इसके विपरीत दुर्विचार एव दुराचार में डूबी हुई आत्मा दु ख देने वाली और सुख छीनने वाली होती है जिससे वह अपनी और सबकी शत्रु बन जाती है । कहा गया है कि सिर काट देने वाला शत्रु भी उतना अपकार नही करता जितना दुराचार मे लग कर आत्मा करती है । दया शून्य दुराचारी आत्मा पहले कोई विचार नही करती किन्तु जब वह अपने सामने मृत्यु को खडी हुई देखती है तो अपने दुराचरणो को याद करके पछताती है । अत सद्विचार एवं सदाचार मे चलने वाली आत्मा ही उसकी मित्र है जिसके कारण बाहर अन्य मित्रो को खोजने की आवश्यकता नही है ।

आत्म स्वरूप के चिन्तन एव आत्म-कृत्यो की आलोचना के लिये साधक को रात्रि के प्रथम एव अन्तिम प्रहर मे अपनी आन्तरिकता का निरीक्षण करना चाहिये तथा अपनी भूलो को सुधार लेना चाहिये । उसे आत्मालोचना के क्षणो मे विचार करना चाहिये कि दूसरे लोग मुझमें क्या दोष देख रहे हैं तथा मुझे अपने आप में क्या

दोष दिखाई देते है, उनकी समीक्षा करके मैं उन दोषो से मुक्त हो रहा हू, या नही। इस प्रकार सम्यक् रीति से अपने दोषो को देखने वाला ऐसा कोई कार्य नही करता जिससे उसकी सयम साधना मे फिर वही बाधा आवे। जब कभी आत्मा को मन, वचन, काया सम्बन्धी दुष्ट व्यापारो मे लगी हुई देखे तो उसी समय उसे वहा से हटाकर सयम-साधना मे नियोजित करे।

जो आत्मा अपने चिन्तन और अपनी आलोचना की शास्त्रोक्त विधि से अपनी पवित्र भावनाओ के साथ शुद्ध स्वरूपी बन जाती है उसकी उपमा जल पर तैरने वाली नौका से दी जाती है। वैसी ही नौका बनकर जो आत्मा अपने विकास पथ पर अग्रसर हो जाती है, वह ससार सागर को सहज ही मे पार भी कर देती है।

दि २५-७-१९८६



सुख-विपाक

श्री श्रेयास जिन अन्तर्यामी····

तीर्थेश प्रभु महावीर के चरणो मे नत-मस्तक होते हुए उनकी अतिम देशना का स्मरण करते हैं जो समय के उपदेश के रूप में सर्व विदित है। वह अन्तिम देशना बिना किसी के पूछे ही दी गई थी जिसे वह 'अपुद्ध' कहलाती है। श्रेष्ठ पुरुषो का बिना पूछे कुछ कहना विशेष महत्त्वपूर्ण होता है क्योकि वह कथन विश्व के समस्त प्राणियो के प्रति अनन्त करुणा का प्रतीक होता है। केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के बाद तो तीर्थंकर देवो को अपना आत्म करना भी अवशेष नही रहता। वे सिद्ध गति के निश्चि रूप से अधिकारी बन जाते है। उस समय वे चार तीर्थों की स्थापना करके जो कल्याणकारी उपदेश देते है, वह भव्य जीवो पर उनकी दयालु दृष्टि ही होती है। उस पर अतिम समय मे दिया गया उपदेश विशेष रूप से इस कारण मननीय है कि वह उनके साधक जीवन के अनुभवो का सार रूप है। महावीर भगवान् ने जो यह अन्तिम देशना दी वह उत्तराध्ययन सूत्र मे सकलित है। ग्यारहवे अग मे सुख विपाक एव दु ख विपाक का वर्णन आया है।

सुख विपाक का तात्पर्य क्या ?

सुख विपाक किसे कहा गया है—पूर्व कृत कर्मों का ऐसा फल या विपाक, जिससे आत्मा को सुखो का अनुभव हो।

एक आत्मा ही क्या, सारा विश्व सुख और शाति की इच्छा रखता है। प्रत्येक मनुष्य चाहे वह किसी भी क्षेत्र, जाति या वर्ग का हो—सभी प्रकार से सुख ही चाहता है। कोई भी दु:ख को नहीं चाहता। किन्तु विरले ही होते है जो दु:ख और सुख के हेतुओ को को समझ कर दु:ख न आने देने के तथा सुख प्राप्ति के उपायो पर चिन्तन करते हैं तथा उन्हे अपने आचार-विचार मे समाहित करते हैं।

सुख के हेतु या कारण क्या होते है और उसके कौन-कौन से उपाय हैं। इन कारणो व उपायो का ज्ञान सामान्य व्यक्ति को तो न हो सो एक बात, लेकिन उन व्यक्तियो को भी न हो जो प्रतिदिन जिनवाणी को सुनते और समझते हैं—यह आश्चर्य का विषय है। आज नही, कई वर्षो से प्रभु महावीर के उपदेशो का श्रवण कर लेने के बाद भी सुखविपाक के विषय मे अज्ञान बना रहे—यह शोभा की बात नही है। इससे श्रोताओ की असावधानी ही प्रकट होती है कि व्याख्यान सुन लिया और साथ ही साथ उसे झटक भी दिया। सुनाने वाला जागरुक बुद्धि से सुनाते है—इससे उनकी आत्म शुद्धि तो हो जाती है, लेकिन सुनने वाले भी यदि वैसी ही जागरुक बुद्धि रखे और सुने हुए को अपने जीवन व्यवहार मे क्रियान्वित करे तो समस्त वातावरण जाग्रतिपूर्ण बन जावे। जो कुछ उपदेश आप श्रवण करते हैं, उन पर अधिक से अधिक चिन्तन-मनन करे और उसे अपने आचरण मे उतारे तो सुख के हेतुओ की पूर्ति होगी तथा अभिलाषित सुख की प्राप्ति भी हो सकेगी।

ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मो के शुभाशुभ परिणाम को विपाक कहते है। इन्ही कर्मो का जो शुभ परिणाम है वह सुख विपाक तथा जो अशुभ परिणाम होता है वह दु:ख विपाक कहलाता है। तो सुख विपाक के हेतु या कारण वे विचार और कार्य होगे जिनके द्वारा शुभ कर्मो का बध हो। ये बधे हुए शुभ कर्म ही जब फल रूप मे उदित होते है तो आत्मा को तदनुसार सुखो की प्राप्ति होती है। ऐसे विपाक का वर्णन विपाक सूत्र मे किया गया है। इसके दो श्रुतस्कध है—पहला दु:ख विपाक कहलाता है तथा दूसरा सुख विपाक। प्रत्येक श्रुत स्कध में दस-दस अध्ययन है और प्रत्येक अध्ययन मे एक-एक कथा का उल्लेख है। दस कथाए दु:खविपाक से सम्बन्धित हैं तो दस कथाए

सुख विपाक से सम्बन्धित हैं। इन कथाओं के माध्यम से दु ख के हेतुओ और कारणो तथा उपायो व परिणामों पर रौशनी डाली गई है। सुख विपाक की कथाए दिखाती है कि उनके नायको ने कर्मो के सुखमय विपाको को भोग कर सुखपूर्वक मोक्ष प्राप्त किया अथवा करेंगे तथा दु खविपाक की कथाओ के नायक दु:खमय विपाक भोग कर तथा दु खपूर्वक स्थितियो में आगे जाकर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

विपाक-कथाओ के वस्तु विषय

दु ख विपाक की दस कथाओ में बतलाया गया है कि इन व्यक्तियो ने पूर्व भव में किस-किस प्रकार और कैसे-कैसे पाप कर्म उपार्जित किये जिससे आगामी भव मे उन्हे किस प्रकार दु खी होना पडा। नरक और तिर्यंच के अनेक भवो में दु खमय कर्म विपाको को भोगने के वाद वे आगे जाकर मोक्ष भी प्राप्त करेंगे। पाप कार्य करते समय तो अज्ञानवश जीव प्रसन्न होता है और वे पापकारी कार्य उसे सुखदायक प्रतीत होते हैं किन्तु उनका परिणाम कितना दु खदायक होता है और जीव को कितने दु ख उठाने पडते हैं—इन तथ्यो का साक्षात् चित्र इन कथाओ में अ कित किया गया है। ये कथाए हैं—१. मृगा पुत्र २ उज्झित कुमार ३. अभग्न सेन चोर सेनापति ४ शकर कुमार ५ वृहस्पति कुमार ६. नन्दीवर्धन ७ उम्वरदत्त कुमार ८ सौर्य्यदत्तकुमार ९. देवदत्ता रानी तथा १० अ जू कुमारी।

इसी के विपरीत सुखविपाक की दस कथाओ मे वर्णन आया है कि उन व्यक्तियो ने पूर्वभव मे सुपात्र दान दिया था जिसके फलस्वरूप आगामी भव में उत्कृष्ट ऋद्धि की प्राप्ति हुई और तब भी उन्होंने त्याग-संगम का महत्त्व अपना कर ससार को हल्का बनाया। इन कथाओ में सुपात्र दान की महत्ता पर विशेष प्रकाश डाला गया है। पुण्य कार्यों द्वारा बधे पुण्य कर्मो का फल कितना मधुर और स्वरूप होता है—इसका परिचय इन कथाओ से मिलता है। सुख की अभिलाषा रखने वाले प्रत्येक प्राणी के लिये इन कथाओ के अध्ययनो की स्वाध्याय करना परम आवश्यक है। सुखविपाक की दस कथाएं हैं—१. सुवाहुकुमार २. भद्रनन्दीकुमार ३ सुजातकुमार ४ सुवासव कुमार ५ जिनदास कुमार ६ वैश्रण कुमार ७ महावल कुमार ८ भद्रनन्दी कुमार ९. महच्चन्द्र कुमार तथा १० वरदत्त कुमार।

मानव यदि सही विधि से इन वस्तु विषयों पर चिन्तन करे और आचरण का चरण उठावे तो वह अपने भाग्य को परिवर्तित कर सकता है–दु खो को भी सुख मे वदल सकता है। कई भाई कहते रहते हैं कि महाराज, क्या करें–जो भाग्य मे होता है वही घटित होता है। ऐसी कल्पना करते हुए वे हाथ पर हाथ धर कर वैठ जाते हैं। इस तरह की मन.स्थिति में वे न तो ससार का ही कोई कार्य पूरा कर सकते हैं और न ही किसी धार्मिक कार्य को सम्पन्न वना सकते हैं। वे तो सोचते रहते हैं कि जव भी भाग्य खुलेगा तभी हमारा काम बनेगा। किन्तु महावीर प्रभु ने स्पष्ट रूप से उद्घोषणा की है कि तुम भाग्य के नाम मर निष्क्रिय न वनो बल्कि शुभ उद्देश्य के लिये शुभ पुरुपार्थ करते रहो। आवश्यकता है कि इस उद्घोपणा के अनुसार आत्मा पुरुपार्थी बने और अपने वल, वीर्य तथा पराक्रम को उद्घाटित करे।

सुखविपाक सूत्र का रहस्य–

सुख विपाक सूत्र एक ऐसा सूत्र है, जिसके श्रवण, मनन एवं आचरण से आत्मा सुखी वन सकती है। कहा है—एकै साधे सब सधै, और सब साधै सब जाय। सुवाहुकुमार की जीवनचर्या सुनकर कोई भी मानव उसके आचरण को सहज ही मे अपना सकता है। सच्चे दिल से उसे जीवन मे ढालकर जीवन को एक नया रूप दे सकता है। यदि मानव सुख विपाक सूत्र को सुनकर अपने आचरण में ऐसा परिवर्तन ले आता है तो उसका वह सूत्र-श्रवण भी सार्थक वन जाता है।

सामान्य रूप से मनुष्य जव किसी के लिये अशुभ सोचता है या कुकृत्य करता है, उस समय तो वह अपनी स्वार्थ-पूर्ति के विचार मे होता है अत अपने विचार या कार्य का सही मूल्याकन नही कर पाता है किन्तु कई बार वह ठोकर लग जाने के वाद भी पीछे मुडकर नही देखता है कि ऐसा क्यो हुआ है ? यदि वह उस समय भी अपने विचार या कार्य के कुफल को समझले तो अपने आपको सुधार कर सही मार्ग पर आ सकता है। तव उस सशोधन से यह भी सम्भव वन सकता है कि आगे उसको इस तरह की ठोकर नही लगे।

मुख्य बात यह है कि आजकल अपनी दिनचर्या या जीवन व्यवहार के प्रति चिन्तन करने का क्रम ही नही रहा है । हर क्षेत्र में ऐसी भागमभाग मची हुई है कि आदमी ठोकर खाता हुआ चला जाता है लेकिन पीछे नजर घुमा कर नही देखता कि उस कटु अनुभव के कारण क्या है ? यदि चिन्तन का नियमित क्रम बनाया जाय तो अपनी चाल का बराबर अनुमान रहता है और उसे सही दिशा में मोड़ते रहने का ध्यान भी बना रहता है। इसके अभाव में वही सब कुछ होता है जो एक आदमी द्वारा फूल चाहते हुए भी काटो के पौधे उगाते रहने के कारण उसे काटे ही कांटे मिलते हैं। साफ नियम है कि फूल चाहिये तो फूल के पौधे लगाओ लेकिन काटो के पौधे लगाते जाओगे तो फूल कहां से मिलेंगे ? सभी चाहते तो सुख हैं लेकिन इस तथ्य पर कोई चिन्तन नही करता कि सुख पाने के लिये उसके हेतुओं को समझ कर सुखदायक शुभ विचार रखने होगे तथा शुभ कार्य करने होगे ।

सुख विपाक सूत्र का यही रहस्य है कि सच्चे सुख को समझो और समझो कि वैसा सुख क्या कार्य करने मे प्राप्त हो सकेगा ? यदि दुःख मिलने के कार्य करोगे और सुख चाहोगे तो सुख कहा से मिलेगा ? पाप कार्यों से दुःख का विपाक होगा तो पुण्य कार्यों से सुख का विपाक बनेगा ।

सुख दो तो सुख मिलेगा-

यह कोई टेढी बात नही है जिसे सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी नही समझ सके कि दूसरो को जितना अधिक से अधिक आप सुख पहुचा सकेंगे, उतना ही आपके पुण्य कर्मों का बन्ध होगा और उन पुण्य कर्मों के फल या विपाक स्वरूप आपको सुख के साधन प्राप्त हो सकेंगे । आप अपने गृहस्थ जीवन की दृष्टि से परिवार को या समाज को देखते है । एक पुरुष का जन्म एक सम्पन्न परिवार मे होता हैं तो उसे सारी सुख-सुविधाएं सहज ही मे उपलब्ध हो जाती हैं । कोई पूछ सकता है कि जन्मते ही उसने ऐसा कौनसा पुण्य कार्य कर लिया कि उस सारे सुख साधन प्राप्त हो गये ? इसके विपरीत एक पुरुष का जन्म अभावग्रस्त दुःखी परिवार में होता है तो उसे जन्मते ही दुःख

भार उठाना पड जाता है। भला उसने ऐसा कौनसा कुकृत्य कर लिया कि उसके जीवन का प्रारम्भ ही दुःखो के साथ हुआ ? इस कारण दृष्टि पीछे घुमानी पडती है कि उनका वह सुख और दुःख इस जीवन के कार्यो का प्रभाव नही है बल्कि पूर्वजन्म के कार्यों का प्रभाव है। पहले के बधे हुए कर्मों का इस जन्म में विपाक प्रकट हो रहा है।

कभी-कभी आप देखते हैं कि एक दुधमुहा बच्चा है। छोटी आयु मे ही उसे पोलियो की बीमारी हो जाती है और वह अपग बन जाता। ऐसा क्यो हुआ ? आज का मानव ऐसी परिस्थितियो पर गहराई से चिन्तन नही करता है। शास्त्र मे प्रसग आते हैं कि इस जन्म मे जन्म लेने वाले उस व्यक्ति ने अपने पूर्व जन्म मे धर्म में सत्पुरुषार्थ नही किया, दूसरो के मन को सुख नही पहुचाया या कि अपने आचार-विचार को शुभ बनाये नही रखा। इसी कारण इस जन्म में उसका जन्म दुःखी परिवार मे होता है तथा जन्म या बाल्यकाल से अनेक प्रकार के रोगो मे ग्रसित बन कर वह स्वय दुःखी और दूसरो के दुःख का कारण हो जाता है।

इसी स्थान पर पूर्व जन्म मे जिसने अपने विचारों मे शुभता रखी हो, आचरण से सबको सुख पहुचाने की चेष्टा की हो तथा धर्म मे सत्पुरुषार्थ नियोजित किया हो तो वह इस जन्म में पुण्य कर्मों का कार्माण शरीर लेकर आता है जिसके कारण इसका जन्म सुखी एव स्मृद्ध परिवार मे होता है तो वह स्वय भी सुखी और सबके सुख का भाजन बनता है।

ऐसी सुखद उपलब्धियो के बाद भी कई बार देखा जाता है कि वैसा पुरुष भी सुख के हेतुओ को भुला देता है तथा अपनी वृत्तियो एव प्रवृत्तियो से दूसरो को दुःख देने लग जाता है। ऐसी स्थिति में पुण्य कर्मों को तो वह वहां भोग लेता है लेकिन भावी के लिये पाप कर्मो का भार बाध लेता है जिसके दुःखविपाक के कारण वह पुनः दुःखजनक स्थितियो मे घिर जाता है। इसलिये निरन्तर सुखी बने रहने के लिये तथा सुखविपाक की परिस्थितिया स्थायी बनाने के लिये यही नियम सार्थक होता है कि सबको अपने सर्वस्व त्याग के साथ

सुखी बनाने के प्रयत्न में सन्निष्ठा से लगे रहो । सबको सदा सुख देते रहोगे तो तुम्हारा सुख भी स्थायी और अक्षुण्ण बना रहेगा ।

सुख पाओ, सुख बाटो--

सुख देने और सुख लेने का ऐसा पुण्यशाली क्रम है कि यदि विवेकपूर्ण इसे बनाये रखा जाय तो समस्त सुखदायक वातावरण स्थायी रूप ले सकता है । अन्य प्राणियो को सुख देने मे पुण्य कर्मो का बध होगा और उससे सुखविपाक बनेगा । अपने को उससे जब सुख-साधनो की सम्पन्नता मिलेगी और उन्हे जब समतापूर्वक जरूरतमन्दो में बाट देंगे–समविभाग कर देंगे तब मोक्ष की दिशा मिलेगी क्योकि प्रभु महावीर कह चुके हैं कि जो सविभागी नही होता, उसे मोक्ष भी नही मिलता । अत शुभ भावना और शुभ कार्यों का क्रम हमें निरन्तर चलाते रहना चाहिये ।

आचार्य श्री गणेशीलाल जी म सा. फरमाते थे कि जोधपुर में एक बडे ऑफिसर सिंघवी जी थे । बडी हवेली, बडा परिवार–इस तरह सभी प्रकार से वे सम्पन्न थे । उनके यहा एक महात्मा भिक्षा लेने गये। सन्त जीवन समभाव से भरापूरा जीवन होता है—वे भिक्षा भी लेने जाते हैं तो एक पक्ति से विचरते हैं । गरीब का घर हो या अमीर का–पक्ति मे किसी का घर वे छोडते नही हैं । गोचरी लेते-लेते वे सिंघवी जी की हवेली मे भी चले गये । उन महात्मा को देखते ही सिंघवी जी गद्दी-तकिये से उठ खडे हुए, उन्हे आदर दिया । फिर महात्मा भीतर चले गये और सिंघवी जी अपनी गद्दी पर वापिस बैठ गये । उन्हे अभिमान कुछ ज्यादा ही था-सोचने लगे–इन साधुओ के व्याख्यान में क्या जाना ? इनसे तो मे ही ज्यादा जानता हू । वे पल्लवग्राहे पाडित्य का गुमान करने लगे ।

उधर महात्मा भीतर पहुचे तो सिंघवी जी की पत्नि बडी श्रद्धा के साथ गादी तकिये से उठी, चार-पाच कदम सामने आई और बडी विनम्रता से बोली–महाराज ! आपने मेरे झोपडे को पावन कर दिया । वह सरल और निरभिमानी थी । भक्ति–भाव से उन्हे रसोई गृह मे ले गई । महात्मा गोचरी को दृष्टि से उतना अल्प आहार ही

लेते है जो सर्वदोष रहित हो और गाय के चरने के समान हो ताकि पीछे से नया आहार न बनाना पडे । ऐसा आहार नही मिलता है तो वे तपस्या कर लेते है किन्तु हर हाल मे सुखानुभूति से भरपूर रहते है और इसी कारण वे सर्वत्र सुख बाटते रहते हैं । सुख बाटने की ही दृष्टि से जब वे बाहर निकलने लगे तो उन्हौने सिंघवी जी को संकेत दिया कि वे कुछ न कुछ शुभ कार्य करते रहे और धर्म मे रुचि लें । सिंघवी जी ने गर्व से कहा—महाराज, मैं तो ऑफिसर हू सो भलाई के काम करता ही रहता हू । महात्मा बोले—सिंघवी जी,एकाध व्यक्ति का भला कर देने मात्र से कृतकृत्य नही हुआ जाता हैं । मैं हित की बात कहता हू कि सर्वस्व के त्यागी महात्मा आपके शहर मे आये है तो कुछ लाभ लेना चाहिये । आप चाहे तो इसके लिये समय निकाल सकते है ।

आप जानते है कि टी वी पर कोई मनशहेता कार्यक्रम आवे तो समय निकलता है या नही । लेकिन सन्त समागम के लिये समय निकालने की बात हो तो जैसे बडा कठिन-सा लगता है । महात्मा ने फिर समझाया—सिंघवी जी, मैं सहज ही इस सस्ते मे आ गया, कुछ लाभ आप भी लेते और सन्तो को अपने हाथ से दान देते । इस पर वे बोले-क्या भीतर आपको पर्याप्त गोचरी नही मिली-मेरी पत्नी ने नही वहराया ? महात्मा ने कहा-क्या उनके भोजन कर लेने से आपका पेट भर जायगा ? नही भरेगा, इसीलिये मैं कहता हू कि पूर्व जन्म की पुण्यवानी से आपको अच्छी पत्नी और अच्छी सम्पन्नता मिली है । इसको यहा भोग लोगे और आगे के लिये नया पुण्य बध नही करोगे तो भविष्य का क्या होगा ? यदि आयुबध के समय इसी हवेली मे मन रह गया और धर्म की पूजी नही कमा पाने से श्वान योनि मे चले गये तो सोचिये कि क्या आपकी धर्मपत्नि ही आपको भीतर घुसने देगी ? इसलिये प्राप्त पूजी से नई पूजी समय रहते कमा लो । अवसर का लाभ उठा लो ।

क्या आप लोगो को भी ऐसा अवसर मिला ह या नही ? क्या आप पूरा-पूरा लाभ उठा रहे हो ? कथा आदि के प्रसग से कथा-वाचक पडित आदि बुलाये जाते है तो उन्हे भेंटे वगेरा देनी पडती है,

लेकिन यहां क्या लग रहा है ? तभी तो कहा है कि पैसा लगे न टक्का, ढूंढिया धर्म पक्का । लोग हमे ढूंढिया क्यो कहते हैं ? बारह वर्षों के दुष्काल मे जब शिथिलता व्याप्त हो गई, तब लौकाशाह ने धार्मिक क्षेत्र मे क्रान्ति की । उन्होने कोई नया धर्म नही चलाया, बल्कि इसी पवित्र सस्कृति का उत्थान करके धार्मिक आचार को शुद्ध स्वरूप प्रदान किया । उन्होंने पतन के कारणो को गहराई से ढूढा और लोगो को समझाया कि आचरण का शुद्ध स्वरूप कैसा होता है । उस समय आम लोगो के लिये तो वह नई खोज थी—नया सत्य था, इस कारण नये सत्य को ढूढ लेने के सम्मान में उनको व उनके अनुयायियो को ढूंढिया कहना शुरु कर दिया । उसी ढूढिया शब्द को विद्वेषी विरोधियो ने अपमानजनक रीति से यो प्रयुक्त किया कि इन लोगो को ठहरने के लिये 'ढूढे' याने गिरे-पडे मकान ही मिलते है सो ये ढूढिया हैं । सही अर्थ यही है—*ढूढत ढूढत ढूढ लिया, सब वेद पुरान कुरान* में जोई ।

सुख का लाभ लो, सुखविपाक होगा—

ढूढिये बनकर आप आतरिक सुख का पूरा-पूरा लाभ लो और सुखविपाक बनाओ । आपको भी सुख-लाभ लेने का यह सारा कार्यक्रम सहज भाव से मिला हुआ है और यहा के सघ ने भी सद्भाव पूर्वक सारी व्यवस्था कर रखी है जो एक प्रकार से पुण्यवानी का उदय है अतः मैं आपसे कहता हू कि जो भी शास्त्र के सत्सिद्धात आपके सामने आ रहे है, उन्हे श्रवण-मनन कर सुखानुभूति ग्रहण करें ।

सच्चे सन्त जो भी बात कहते हैं, वह शास्त्र सम्मत होती है और दृष्टात आदि देते हैं, वे भी शास्त्रीय बात की पुष्टि करने वाले ही होते हैं । मा बच्चे को पुष्ट करने की बात कहती है तो वह उसे कैसे पुष्ट बनाती है ? यदि बालक घी, दूध, मक्खन कोरा नही खाता है तो वह उसे हल्वा, पूडी, मिठाई आदि मे मिलाकर खिलाती है । उसी प्रकार सन्त जन आत्म-स्वरूप की पुष्टि के लिये शास्त्रीय सिद्धातो को कथा-दृष्टातो के माध्यम से आपके सामने रखते है और उसे आपको अपने जीवन मे उतार कर आत्म स्वरूप की गहराई मे पहुचना चाहिये ।

सुख क्या है, कैसा होता है ? क्या टेम्परेरी सुख चाहिये या शाश्वत सुख ? किन उपायो से आप शाश्वत सुख प्राप्त कर सकेंगे ?

शास्त्रकारो ने सुख दस प्रकार के बताये हैं.—

(१) आरोग्य—शरीर का निरोग रहना सभी सुखों में श्रेष्ठ माना गया है। पहला सुख निरोगी काया। क्योकि शरीर निरोग रहेगा तभी आगे के नौ सुख प्राप्त हो सकेंगे तथा धर्म की भी सुन्दर साधना हो सकेगी। शरीर के आरोग्य के बिना सयम सुख और मोक्ष सुख का प्राप्त होना भी असभव कहा गया है।

(२) दीर्घ आयु—दीर्घ आयु के पहले शुभ विशेषण लगावे क्योकि शुभ दीर्घ आयु होगी तभी सुखस्वरूप बन सकेगी।

(३) आढ्यत्त्व—आढ्यत्त्व कहते हैं—विपुल धन सम्पत्ति का प्राप्त होना। धन-सम्पत्ति भी सुख का कारण होती है यदि उसका सविभाग किया जाता है।

(४) काम—पांच इन्द्रियो के विषयो में से शब्द और रूप काम कहे जाते हैं। यहां पर भी शब्द और रूप के पहले 'शुभ' विशेषण लगाया जाना चाहिये ताकि काम सधर्म कहला सके।

(५) भोग—पांच इन्द्रियों के विषयों मे से गंध, रस और स्पर्श भोग कहे जाते हैं। इन्हे भी शुभ रूप मे ग्रहण किया जाना चाहिये। कारण मे कार्य का उपचार करके इनको भी सुख के हेतु माना है।

(६) सन्तोष—अल्प इच्छा को सन्तोष कहते हैं। चित की शांति और आनन्द का कारण होने से सन्तोष को वास्तविक सुख कहा गया है। शरीर की निरोगता होने पर ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-इन चार पुरुषार्थों मे से सबकी या किसी एक पुरुषार्थ की साधना की जा सकती है। धर्म का सार सत्य है। वस्तु का निश्चय होना ही विद्या का सार है और सन्तोष ही सब सुखों का सार है।

(७) अस्ति सुख—जिस समय जिस पदार्थ की आवश्यकता हो, उस समय उसी पदार्थ की प्राप्ति हो जाना—यह भी एक सुख है क्योकि आवश्यकता की पूर्ति से सुख का अनुभव होता है ।

(८) शुभ भोग—अनिन्दित प्रशस्त भोग शुभ भोग कहलाते हैं । ऐसे शुभ भोगो की प्राप्ति और उन कामभोगादि विषयो मे भोग क्रिया का होना भी सुख है जो साता वेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त होता है ।

(९) निष्क्रमण—निष्क्रमण नाम दीक्षा-सयम लेने का है । अविरति रूप जजाल से निकल कर दीक्षा अ गीकार करना ही वास्तविक सुख है । सासारिक झझटो मे फसा हुआ प्राणी स्व-पर कल्याण एव धर्म ध्यान के लिये पर्याप्त समय नही निकाल सकता है इसलिये पूर्ण आत्म शांति भी प्राप्त नही कर सकता है । इस कारण सयम स्वीकार करने को ही वास्तविक एव शाश्वत सुख हेतु माना गया है । निग्र थ साधु का सुख इन्द्र और नरेन्द्र के सुख से भी बढकर होता है। इस नौवे सुख के अतिरिक्त पहले के आठो सुख केवल दु ख के प्रतिकार मात्र है तथा अभिमान उत्पन्न करने वाले हैं अत सच्चा सुख सयम मे ही रहा हुआ है ।

(१०) अनाबाध सुख—जन्म, जरा, मरण, भूख, प्यास आदि सभी बाधाओ को जो समाप्त कर देता है, वह सुख अनाबाध कहलाता है । ऐसा सुख मोक्ष सुख होता है । यही सुख वास्तविक, शाश्वत एव सर्वोत्तम सुख माना गया है । इससे बढकर कोई सुख नही । जो सुख अव्याबाध स्थान मोक्ष को प्राप्त सिद्ध भगवान् को है, वह सुख देव या मनुष्य किसी को भी नही है अत मोक्ष सुख-अनाबाध सुख सब सुखो में श्रेष्ठ है तथा नौवा सुख निष्क्रमण सर्वोत्कृष्ट मोक्ष सुख का साधक है ।

सुबाहुकुमार के सुख आप भी प्राप्त करो—

सुखो के स्वरूप को समझकर सुखविपाक की उक्त दसकथाओ मे से पहली कथा के नायक सुबाहुकुमार के सुखहेतुओ को आप भी सुनो और उन सुखो को प्राप्त करने के लिये सत्पुरुषार्थ करो ।

हस्तिशीर्ष नगर के अदीनशुभ राजा की धारिणी रानी गर्भिणी हुई तो उसे सिंह का स्वप्न आया। स्वप्न पाठको ने बताया कि वह सिंह के समान तेजस्वी पुत्र को जन्म देगी। फिर उसे मेघ का दोहला भी उत्पन्न हुआ। यथासमय रानी ने सुलक्षण पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम सुवाहुकुमार रखा गया। सुबाहुकुमार शिक्षा एव कलाओ मे सम्पन्न हुआ तो पुष्पचूला आदि पाचसौ कन्याओ के साथ उसका विवाह सम्पन्न कराया गया जिनके साथ इन्द्रिय भोग भोगता हुआ वह सुख से समय विताने लगा।

एक समय नगर के बाहर के पुष्पकरड उद्यान में भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ। सभी दर्शन, वन्दन, श्रवण को गये और लौट आये लेकिन सूवाहुकुमार वही ठहर गया। उसने भगवान् से निवेदन किया—हे प्रभु, मुझे धर्मोपदेश सुनकर अत्यन्त हर्ष हुआ है। मैं अभी दीक्षा अगीकार करने मे तो सामर्थ नही हू किन्तु आपके पास श्रावक के व्रत स्वीकार करना चाहता हूं। भगवान् ने कहा—धर्म कार्य में तनिक भी ढील मत करो। श्रावक के व्रत स्वीकार करके सुबाहुकुमार घर पर आ गया।

सुवाहुकुमार के जाने के वाद गौतमस्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया—भगवन, यह सुवाहुकुमार सब लोगो को इतना इष्टकारी और प्रियकारी लगता है और इसका रूप वडा सुन्दर है सो इसको यह सारी ऋद्धि किस कार्य से प्राप्त हुई है ? वह पूर्व भव मे कौन था तथा इसने किन शुभ कार्यो का आचरण किया ? भगवान् फरमाने लगे—पहले हस्तिनापुर नगर में सुमुख नामक एक गाथापति रहता था। तव धर्मघोष नाम के स्थविर अपने पाचसौ शिष्यो के साथ वहा पधारे। उनके सुदत्त नाम के एक शिष्य अणगार मासखमण (एक-२ मास का तप) किया करते थे। मासखमण के पारणे के दिन तीसरे पहर मे भिक्षा के लिये बाहर निकले। उन्होने सुमुख गाथापति के घर मे प्रवेश किया। मुनि को देखते ही वह आदरपूर्वक सामने आया और उसने शुद्ध भाव से शुद्ध वस्तु का दान दिना। द्रव्य, दाता और प्रतिग्रह तीनो शुद्ध थे—आहार द्रव्य रूप शुद्ध था, फल की वाछारहित दाता शुद्ध था तथा दान लेने वाले भी शुद्ध संयमी भावितात्मा थे। तीनो की शुद्धता के कारण सुमुख गाथापति का संसार हल्का हुआ

और उसने मनुष्य आयु का वध किया। वही सुमुख गाथापति का जीव सुवाहुकुमार है। भगवान् ने यह भी बताया कि यही सुवाहुकुमार उनके पास दीक्षा भी अगीकार करेगा। फिर यथासमय सुवाहुकुमार ने भगवान् के समीप दीक्षा अगीकार की और ज्ञान-ध्यान-तपाराधना करते हुए एक माह की सलेखना संथारा करके काल किया और सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहां से वह जीव मनुष्य भव प्राप्त करेगा। फिर पांच वार मनुष्य भव करते हुए भिन्न-भिन्न देवलोको में जायगा। उसके वाद महाविदेह क्षेत्र मे मनुष्य भव मे जन्म लेगा तथा सम्पूर्ण कर्मक्षय करके मुक्तगामी वनेगा।

तो यह सुख देने और सुख लेने का क्रम यह आत्मा निरन्तर शुभ प्रवृत्तियो एवं शुभप्रवृत्तियो मे निरत रहकर ही बना सकती है और सुवाहुकुमार के समान सुख लाभ प्राप्त करती हुई अन्ततोगत्वा मुक्तिगामी बन सकती है। आप लोगो को सन्त-सतियो के सहयोग से ज्ञानार्जन की प्रेरणा रखनी चाहिये एव अपने वालक-वालिकाओ को देनी चाहिये ताकि सुखविपाक के हेतु रूप गे शुभ कार्यों में रत रह सके। दि. २६-७-१९८६



समस्याओं का जाल

श्री श्रेयास जिन अन्तर्यामी ......

परमात्मा को अपने स्मृति पटल पर उभारते हुए उनकी दिव्य देशनाओ पर चिन्तन आज आवश्यक है । वह इसलिये कि वर्तमान मे मानव जीवन की कई समस्याए मानव-मस्तिष्क मे घेरा डाल कर खडी हुई हैं । आत्मा के पवित्र स्वरूप पर निरन्तर चिन्तन करते रहने वाला मानव आज अनेकानेक समस्याओ के जाल मे उलझ गया है । अपने निजी जीवन की, पारिवारिक जीवन की, अपने सामाजिक एव राष्ट्रीय जीवन की ये समस्याए वह सही तरीके मे हल नही कर पा रहा है ।

ऐसा क्यो हो रहा है—इस विषय पर मानव को सही तरीके से चिन्तन करना है कि ये समस्याए किन-किन रूपो मे मु ह बाए सामने खडी है और इन सबका मूल कारण क्या है ?

चारों ओर फैली हुई इन समस्याओं पर मानव कभी एकात मे बैठकर कल्पना भी करता है और किन्ही सतही उपायो पर विचार भी करता है, परन्तु समस्याओ का समाधान नही होता है । फलस्वरूप

उसके मन मे उदासीनता व्याप्त हो जाती है, मस्तिष्क में तनाव फैल जाता है और जीवन मे चारो ओर हताशा दिखाई देने लगती है। इस कारण यदि इन पर कभी-कभी भी गहरा चिन्तन किया जाय और उसके कारणो को ढूंढा जाय तो निश्चय ही उन कारणो को समाप्त करने के प्रयासो की तरफ प्रवृत्ति होगी और उसके परिणाम स्वरूप समस्याओ का सही और स्थायी समाधान भी निकल आवेगा।

शोध और निर्णय की आवश्यकता–

समस्याओं के कारणों की शोध का मूल महत्त्व है। कार्य तो सामने दिखाई देता है लेकिन उसके कारण पृष्ठभूमि मे अदृश्य होते हैं इसलिये कारणो की शोध करनी पडती है। इस शोध के समय में निर्णय की वैसी सही शक्ति भी आवश्यक होती है जो सही कारणो का फैसला कर सके। क्योकि सही कारणो की खोज के बाद कर्तृत्व शक्ति का ही क्रम आता है। सही कारणों का पता चल जाय और उन्हे खत्म करने का पुरुषार्थ सजग बन जाय तो फिर समस्याओं को हल कर लेना कठिन नही रहता है। अगर कारणो की खोज में ही गडवड रहे अथवा सही कारणो का पता नही चल सके तो उस अधूरे निर्णय के आधार पर किया गया पुरुषार्थ निरर्थक हो जाता है।

शोध और निर्णय की सही सफलता से एक चमत्कार होता है। अधिकाशत मानव के मन मे हताशा का भाव अज्ञान के कारण फैलता है। वह कुछ करना तो चाहता है लेकिन वह क्या करे—यह उसे समझ में नही आता है। इसलिये उसे क्या करना है—यदि यह समझ मे आ जावे तो उसके मन में तदनुसार कर गुजरने की उमग भी पैदा हो जाती है। कुछ करने की उमग तो साधारणतया मानव के मन में होती है और आशा के साथ वह कुछ कदम भी उठाता है लेकिन जल्दी ही उसकी आशा समाप्त हो जाती है क्योकि उसके मार्ग मे शोध और निर्णय का प्रकाश नही होता। यही वह अवस्था होती है जहा मानव को गहरे चिन्तन की तरफ मुडना चाहिये। कारण, चिन्तन के बाद ही शोध और निर्णय के माध्यम से सही दिशा मे आगे बढने को प्रेरणा मिलती है। छात्र अपनी परीक्षा के प्रसग से अधिक परिश्रम करता है और विश्वास रखता है कि उसमे वह उच्च

श्रेणी से उत्तीर्ण होगा। किन्तु जब परीक्षा का परिणाम निकलता है और उसको वाछित सफलता नही मिलती है तो उसका सारा उत्साह ठडा हो जाने मे वह मायूप होकर बैठ जाता है। किन्तु कम छात्र ही ऐसे होते होगे जो ऐसा क्यो हुआ है—उस पर गंभीर चिन्तन करते होगें। यदि छात्र परीक्षा परिणाम की गहराई में उतरकर चिन्तन और अपने पिछले परिश्रम की समीक्षा करे तो उसे अपनी असफलता के कारण भी ज्ञात हो सकते है और उसे यह भी सूझ सकता है कि वे क्या निश्चित उपाय हो सकते हैं जिनके बल पर उसे वाछित सफलता प्राप्त हो ही।

व्यापारी वर्ग तो फिर भी पैसे का मामला होता है सो अधिकतर नतीजो पर सोच-विचार करके सही रास्ता ढूढने की चेष्टा करता है, फिर भी कई मौके ऐसे आते है जब वह अपने आप में मुरझा जाता है और समझ नही पाता है कि उसे सफलता कैसे मिल सकती है। ऐसी ही मानसिक अवस्था परिवार, समाज या राष्ट्र की समस्याओ के सम्बन्ध में भी हो जाती है और चारो ओर ऐसा अधेरा मालूम होता है जिसके रहते समस्याओ के समाधान दिखाई नही देते। नेताओ का भी कई बार मतिभ्रम हो जाता है और वे निराशा में डूब जाते हैं। हमारे ही राष्ट्र की, आप देखते हैं कि कैसी विषम अवस्था चल रही है और कैसी-२ विचित्र बाते सुनने को मिल रही है—यह सब समस्याओ का जाल बन गया है।

समस्याओ के इस बहुमुखी जाल से तभी उबर सकते है, जब इन पर चिन्तन करने और करते रहने की आदत बनाई जाय।

चिन्तन का प्रयोजन—

हम यह सोचे कि समस्या तो जहा है, वहां है ही, हमे उस पर सोच विचार करने की क्या जरूरत है? हमको तो अपने ज्ञान-विज्ञान एवं धर्म-ध्यान मे ही मग्न रहना है और आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में ही सोचना है एवं धार्मिक प्रवृत्ति को अधिकाधिक प्रसारित करना है। ऐसा भी चिन्तन चलता है। यह चिन्तन तो जीवन के लिये अतीव महत्त्वपूर्ण है ही कि आत्मा का निजी स्वरूप क्या है,

उसकी वैभाविक विकृति कैसी होती है तथा विभाव को मिटा कर वह परमात्म स्वरूपी कैसे बन सकती है ? यही सच्चा मार्ग है जिससे उस ज्ञान और शांति की प्राप्ति होती है जो इन सभी समस्याओ के जाल का भेदन कर सकती है । फिर भी वर्तमान समस्याओ को सन्दर्भ बनाना जरूरी होता है कि आत्मिक चिन्तन भी सफल बन सके । जिस वातावरण के बीच में रहते हुए आत्मिक चिन्तन किया जाता है, उस वातावरण की उपेक्षा नही की जा सकती है । यदि ऐसा किया जाता है तो वह चिन्तन की अपूर्णता ही मानी जायगी, पूर्णता किसी स्थिति में नही ।

अपूर्ण व्यक्तियो के पास मे या सामने चाहे कोई समस्या न भी हो किन्तु उस वातावरण में जिसमे वे रह रहे हैं यदि समस्याओ का जाल फैला हुआ है तो उसे वे देखे बिना नही चल सकते हैं । पडोस मे कोई जटिल समस्या चल रही है या कि समाज व राष्ट्र में विकट समस्याए खडी हुई हैं तो यद्यपि ये सब बाते कमरे के भीतर बैठने वाले उस व्यक्ति के सामने नही है फिर भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जब आपका गहरा चिन्तन होगा अथवा वीतराग देव के सिद्धातो की मार्मिक दृष्टि आपको मिलेगी तो आप जान पायेगे कि इन समस्याओ का सच्चा समाधान मिले बिना आप को भी शांति नही मिल सकेगी ।

आप इस समय इस बड़े हॉल मे बैठे हुए है । इसकी खिड-किया खुली होने से हवा भीतर आती है ग्रीष्मकाल हो तो गर्म हवा से आपकी त्वचा मे जलन पैदा होगी और शीतकाल की ठडी हवा आयगी तो प्रकम्पन पैदा करेगी । यह सबके अनुभव की बात है । इसके अतिरिक्त यदि कही जहरीले तत्त्व का विस्फोट हुआ हो तो उस जह-रीली हवा का असर भी भीतर प्रवेश कर सकता है जिससे जीवन में अस्त-व्यस्तता भी आ सकती है । तव क्या आप चिन्तन नही करेंगे कि यह सव कैसे हुआ है ? हवा मे फैले जहरीले तत्त्वो के मिश्रण ने जीवन स्थिति पर विपरीत प्रभाव क्यो छोडा है ? इसी प्रकार यदि पडोस मे अशाति हो—क्लेश बढ रहा हो तो उसके परमाणु भी आप पर असर छोड सकते है । ऐसी स्थिति में क्या आपको उस पर चिंतन नही करना पडेगा ? ऐसा वायुमण्डल सब ओर बनता है जो आपकी

मानसिक अवस्था को झकझोर डालता है तो क्या आप उस पर भी चिन्तन नही करेगे ?

समस्याओ का विश्लेषण-

चिन्तन का प्रयोजन होता है कि सामने आई हुई समस्या या समस्याओ का विश्लेषण किया जाय और उसके द्वारा उसके कारणो तक पहुचा जाय। मैं यहा आपकी विचित्र समस्याओ का विश्लेषण कर रहा हू। आप भी इनका हल चाहते हैं क्योंकि आप जानते हैं कि इन समस्याओ के बीच में रहते हुए इनके हल के बिना शाति से जीवन नही चल सकता है। किन्तु मैं भी आपको आश्वस्त करना चाहता हू कि इनका हल वर्तमानजीवन मे खोजा जा सकता है। इसकी मुख्य शर्त यही है कि इसके लिये आपको आध्यात्मिक क्षेत्र मे आना पडेगा। आप लोगो ने अपनी सारी शक्ति व्यावहारिक क्षेत्र मे लगा रखी है, इस कारण असन्तुलनात्मक अवस्था हो गई है। व्यवहार की बाजू तो पूरी पकडी हुई है पर आध्यात्मिक बाजू छूटी हुई है जिससे समस्याओ का जाल मजबूत होता जाता है। इस दृष्टि से उस असन्तुलन को मिटाने के लिये आध्यात्मिकता का ज्ञान अपने अन्त करण मे जगाना होगा। क्योकि उसी के प्रकाश मे समस्याओ का सच्चा विश्लेषण सम्भव हो पायेगा।

सोचिये कि किसी भी पुरुष के सामने जटिल समस्याए है तो उन समस्याओ को जटिल रूप मिला कहा ? उनका उद्‌गम स्थान कौनसा है ? वे समस्याएं आखिर भीतर के सोच मे ही तो जटिलता का रूप धारण करती हैं। फिर भीतर का सोच ही बाहर वाणी में उतरता है। कदाचित् वाणी व्यवहार मे उसका प्रभाव नही आवे और फिर भी उसका सोच चलता रहे तो सोचिये कि उसका वह सोच हजारो कोस दूर बैठे दूसरे पुरुष को प्रभावित करेगा या नही। भीतरी सोच का बेतार का तार भी ऐसा चलता है कि वह समूचे वातावरण मे अपना असर छोडता है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से सभी को प्रभावित व आदोलित बनाता है।

भौतिक विज्ञान की खोज करने वाले वैज्ञानिको ने स्वय का चिन्तन किया कि हमने अभी तक बाहरी दृश्य पदार्थों की ही खोज

की है। इतनी शताब्दिया बीत गई और अनेक वैज्ञानिको की अमूल्य जीवनियां समाप्त हो गई, फिर भी ये भौतिक वैज्ञानिक कुछ भी भीतरी उपलब्धि नही कर पाए हैं। कुछ ऐसी उपलब्धि उन्होने प्राप्त भी की है तो वह ज्ञान के महासागर मे एक बूद के समान भी नही है। अब इन वैज्ञानिको ने अपनी खोज की दिशा को मोडा है और वे अपने भीतर रहे हुए मन की गति और स्थिति को समझने के लिये तरह-२ की मनोवैज्ञानिक खोजो मे जुटे हुए है।

रूस को कई व्यक्ति नास्तिक देश मानते है। कहते हैं कि वहा भौतिकता ही भौतिकता है। मैं अभी इस विषय पर कुछ नही कह रहा हू किन्तु रूस के फायवोग नामक वैज्ञानिकके बारे मे बता रहा हू जो लम्बे समय से खोज करते हुए भी भीतर की समस्या का हल नही पा रहे थे। धीरे-२ उनकी प्रगति होने लगी और उन्होने बाहरी सचार यन्त्रो की सहायता के विना टेलीपेथी माध्यम से दूर-दूर तक सन्देशो का सम्प्रेषण किया—१५०० किलोमीटर तक की दूरी पर रहने वाले मनुष्यो को अपनी वात सुनाने की क्षमता प्राप्त की। यह क्षमता उन्होने अपने अन्तरावलोकन से प्राप्त की। अपने मनोबल को इस तरह सक्रिय किया कि वह सुदूर वातावरण में भी क्रिया करने लगा। अन्य वैज्ञानिको को जब इस शोध की जानकारी हुई तो उन्होने उसका विवरण जानना तथा परीक्षण करना चाहा। वह परीक्षण जब सफल रहा तो सब आश्चर्य चकित रह गये। यही नही, फायवोग ने उन सब क्रियाओ का विवरण भी वताया जो १५०० किलोमीटर की दूरी पर उन वैज्ञानिको के सामने बैठा हुआ व्यक्ति कर रहा था। भीतर की ही शक्ति पर साधा गया यह उसका दृष्टि-विस्तार भी था। इतना ही नही, उस व्यक्ति के सो जाने पर फायवोग ने उतनी दूरी से उसे जगा भी दिया। उन वैज्ञानिको ने उस व्यक्ति से पूछा कि वह जागा क्यो ? क्या उसने किसी को उसे जगाते हुए देखा है ? तव उस व्यक्ति ने कहा कि नीद मे उसको जगाने वाली आवाज सुनाई दी और उसके वाद वह जाग उठा।

जीवनी शक्ति भीतर मे है—

इस नई शोध का सारे वैज्ञानिक जगत् मे यह प्रभाव पडा कि वैज्ञानिक अब चिन्तन की नई दिशा मे मुड रहे हैं। यह मोड क्यो

आया ? क्योकि फायवोग वैज्ञानिक ने संवाद-सम्प्रेषण का नया विश्लेषण प्रस्तुत किया । किसी भी समस्या में शोध, निर्णय और उसके विश्लेषण से समाधान के नये मार्ग ही नही खुलते अपितु ज्ञान और विज्ञान के नये आयाम भी प्रकट होते हैं ।

अब देखिये कि इसी विश्लेषण ने वैज्ञानिको के चिन्तन को नई और सही दिशा दे दी है कि मानव की सच्ची जीवनी शक्ति भीतर में है । अब यही दिशा उनकी खोज की दिशा वन गई है । यह बात यहा मैं क्यो कह रहा हू ? इसलिये कि शोध और निर्णय आप कहां करेंगे ? विश्लेपण किसकी शक्ति से होगा तथा चिन्तन का क्रम किस धरातल पर खडे होकर चलावेगे ?

आप अपनी अनुभव शक्ति को काम में लीजिये । आप कोई भी काम करते हैं तो सामान्य रूप से आप यहीं समझते हैं कि काम कर लिया याने कि शरीर के अंगोपागो को इधर-उधर चलाया और काम करने लगे । लेकिन क्या वास्तव मे ऐसा ही होता है या भीतर मन में पहले उस काम के सम्बन्ध मे कोई विचार पैदा होता है । ध्यान लगावे तो साफ पता चल जायगा कि पहले मन मे विचार पैदा होता है फिर उस विचार के अनुसार मन शरीर के अंगोपागो को उस रूप में काम करने का निर्देश देता है तभी वाहर उस काम का प्रारम्भ होता है । समझिये कि डाक से आपको अपने किसी सम्बन्धी के विवाह का आमन्त्रण मिला, आपने उसे पढा और मन में विचार किया कि वहा जाना आवश्यक है । तव जरूरी तैयारी आपके अंगो-पांग करने लगे । रेल या बस से जाना हुआ तो आपने उधर गमन किया । इस प्रकार किसी भी क्रिया का उद्गम स्थान शरीर नही है अपितु मन है । मन वही विचार और भावनाओ का केन्द्र है । विचार और भावनाओ के प्रतिफल के रूप मे ही किसी भी कार्य को देखना होगा ।

विचार की अभिव्यक्ति अथवा कार्य की पूर्ति से कभी ऐसी वात पैदा हो जाती है जो विचार या कार्य की सफलता को रोक देती है उसे ही समस्या कहते हैं । रास्ते पर चलते जावे—कोई वात नही, लेकिन रास्ते से जव भटक जाते है तो वहा समस्या पैदी होती है कि

अब किधर मुड़े कि सही रास्ते पर पहुंच जावे। रास्ता न मिलने या रास्ते से भटक जाने का नाम ही समस्या है।

रास्ता क्यों नही मिला या कि रास्ते से भटके क्यों ? इसका साफ कारण क्या पावों के दोष में ढूंढेंगे ? पाव स्वय तो चलते नहीं हैं—वे तो मन के निर्देश पर चलते हैं। इसलिये दोष मन में ही ढूंढना पडेगा। मन का वह दोष क्या हो सकता है ? या तो मन को रास्ते का सही ज्ञान ही नही था जो उसने पावों को यो ही इधर-उधर चला दिया अथवा मन किसी और विचार मे फस गया और वह भूल गया कि उसने पांवो को चलने का निर्देश दे रखा है। मन की असावधानी से पाव रास्ते से भटक गये। समस्या भी तभी मालूम होती है जब मन का ही ध्यान उधर जाता है। इस प्रक्रिया की मूल बात यह है कि विचार या कार्य निर्देश का केन्द्र मन मे है और मन ही के कारण समस्या की उत्पत्ति होती है। इसलिये यह तथ्य भी उतना ही स्पष्ट है कि समस्या का समाधान भी मन की गहरी परीधियो में ही खोजना पड़ेगा।

समस्याओं का रूप दिखाई तो बाहर देता है लेकिन उनकी जड़ें इसी मन के भीतर होती है। मन अपूर्व शक्ति का स्रोत होता है, बस उसकी देखरेख सतर्क होनी चाहिये। इस देखरेख का जिम्मा आत्मा का है याने कि चेतन का है—आपका है, हमारा है, सब प्राणियो का है, अपने-अपने मन को समझ कर अपनी शुद्ध वैचारिकता के अनुसार यदि सभी प्राणी या मानव मन की गति को सचालित करें तो मानव रास्ते पर ही अधिकाश रूप से चलेगा और समस्याए कम से कम पैदा होगी तथा जो भी होगी, जटिल नही बनेगी।

अब सोचें कि यह रास्ते पर चलना क्या है? बाहर का रास्ता हो तो ध्यान रखा जा सकता है आसानी से क्योकि चाहे पगडडी हो, गाडी की गडार हो या कच्ची पक्की सडक हो। यो चलने वाला ऐसी सामान्य सतर्कता रखता ही है। फिर भी पहले किसी ने रास्ते के निशान गलत बना दिये हो तो सतर्कता इस बात की भी होनी चाहिये कि जिन निशानो का वह अनुसरण कर रहा है वे सही है या नही और जहा वह जाना चाहता है, वहा वे पहुचावेंगे या नही। तो चलने

से पहिले रास्ते की पूछताछ और उसके सही होने के बारे में अपनी सन्तुष्टि भी जरूरी है। बाहर के रास्ते पर चलने के लिये भी ये मोटी क्रियाए करनी पडती है और यह करने का काम भी मन का ही होता है। तब वैचारिक एव भावनात्मक रास्तो को खोजना, उनके सही होने का विश्वास लेना और उन पर चलते हुए सतर्कता वरतना यो आसान काम नही है। मन को उसके लिये ज्ञान एव विवेकपूर्ण सूक्ष्म क्रियाए करनी होती है और उसके लिये इस कारण मन का योग्य प्रशिक्षण भी आवश्यक होता है।

आध्यात्मिकता का मार्ग–

मन को समुचित ज्ञान एवं विवेक देने तथा सतर्कतापूर्वक प्रशिक्षित करने हेतु आध्यात्मिकता का मार्ग ही ग्रहण करना होगा। आध्यात्मिकता का मार्ग कोई अलग मार्ग नही है—इसी आत्मा की स्वस्थ गति का मार्ग है जिसे ही मन पर अपना नियन्त्रण स्थापित करना होता है। नियत्रण एव निर्देशन के पहले आत्मा स्वय में सही चेतना जागे—यह आध्यात्मिक ज्ञान एव प्रक्रिया से ही सम्भव हो सकता है। आध्यात्मिकता कोई अलग वात नही है—सिर्फ आत्मा के अधि याने सामने होना है। आत्मा को पहिचानना, उसके मूल स्वरूप एव गुणो को समझना तथा उनके अनुरूप मन एव इद्रियो की गति को सचालित करना—यही आध्यात्मिकता है।

और ऐसी आध्यात्मिकता ही ऐसा वातावरण बना सकती है कि समस्याए पैदा ही न हो और किसी कारण पैदा हो तो तुरन्त सुलझा ली जाय। आज की जटिलतम समस्याओ के समाधान के लिये भी आध्यात्मिकता को ही खोजनी और विकसित करनी होगी। हम बाहर के रास्तो की तरह ही भीतर के रास्तो को पहिचाने, उनसे भटकाव की परिस्थितियो को समझे और उस रास्ते पर चलने के नियमो को अपनावे तो जटिल से जटिल समस्याए भी सद्भाव और सदाचरण के माध्यम से अनायास सुलझा ली जायगी।

इसलिये भीतर के रास्तो को समझने की जरूरत है। कहा से कहा ले जाते हैं ये रास्ते और कैसे होते हैं ये रास्ते ? भीतर के

रास्ते शुरु कहां से होते हैं—यह आप जान चुके हैं। यह जानकारी प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से आपको अपने प्रत्येक कार्य के समय होती रहती है। यह भीतर का रास्ता शुरु होता है मन से और मन की ही गहराइयो मे इस तरह चलता रहता है कि मन की गति स्वस्थ हो तो सही गतव्य पर पहुचादे और मन की ही गति विकृत हो जाय तो समस्याओ के बीहड जगल में आपको फसा दे।

आध्यात्मिकता के मार्ग को समझना है तो पहले मन की गति को समझिये। आपका बाहर का जीवन-व्यवहार आप जानते हैं कि राज्य की कानून व्यवस्था के अनुसार चलता है। यह कानून व्यवस्था कोई दूसरा नही करता, आप ही अपने निर्वाचित प्रतिनिधियो के माध्यम से करते है। बाहर का लेना-देना, बर्ताव करना आदि सारा क्रिया-कलाप कानून में परिभाषित होता है और उसी के अनुसार आपको सारे काम-काज चलाने होते हैं। ऐसे भी लोग होते हैं जो कानून को तोडते है तो उनको उसकी सजा मिलती है। जैसे यह बाहर का कानून है, वैसे ही जो भीतर का कानून है वह आध्यात्मिकता का मार्ग है—वीतराग भगवान् का मार्ग है। यह बाहर का कानून तो बलात् भी मनवाया जाता है लेकिन आध्यात्मिकता का मार्ग सोच समझकर स्वेच्छा से अपनाना होता है तथा निष्ठा से पालना होता है।

भीतर के इस कानून का आपको ज्ञान कैसे हो ? अपने स्वय के अनुभवो के आधार पर तीर्थंकर देवो ने उसका विशद् विश्लेपण करके उपदेशो के रूप मे सबको समझाया है। उसके ही प्रकाश में आपको भी अपने भीतर झाकना होगा। प्रत्येक कार्य या वचन का मूल भीतर में होता है तथा बाहर के किसी भी व्यवहार या दृश्य की पहली प्रतिक्रिया भी भीतर मे ही उठती है। उस समय निर्देश की पहली आवाज भी भीतर मे उठती है है जिसे आत्मा की आवाज के रूप मे जाना जाता है। प्रत्येक मानव इस अपनी आत्मा की आवाज को सुनता है—सुनकर भी वह उसे अनसुनी कर दे—यह दूसरी बात है। वास्तव मे होता भी यही है कि अपने अज्ञान के कारण अधिकतर वह उसे अनसुनी ही करता रहता है। आत्मा की आवाज को ठुकराते रहने का दूसरा बडा कारण स्वार्थ का होता है। आत्मा की आवाज

तो रास्ते पर चलने की आवाज होती है लेकिन अज्ञान और स्वार्थवश मानव रास्ते पर से भटक जाने को उस समय अपना हित मान लेता है । अहित में हित को मान लेना-यही उसका मिथ्यात्त्व होता है । हित को हित मानने की दृष्टि को इसी कारण सम्यक् दृष्टि कहा गया है । सम्यक् दृष्टि है वही आध्यात्मिकता है ।

सम्यक् दृष्टि से समस्याओ का समाधान-

मनुष्य के मन में समाया हुआ मिथ्यात्त्व ही समस्याओ का मूल है । जहा अच्छाई नही है, उसमे अच्छाई मान ली याने कि बुराई मे अच्छाई मान ली और काम करने लगे तो भला उससे सफलता कैसे मिलेगी ? वहा तो समस्याए ही पैदा होगी । अब अच्छाई को परख लें और अच्छाई को अच्छाई मानकर उसके मुताबिक चलने लगे तो समस्याओ का समाधान निकल आयगा और सफलता भी मिल सकेगी ।

मिथ्यात्व को छोडकर सम्यक् दृष्टि बनने का काम आत्मा का है और आत्मा के माध्यम से मन का है और इसलिये आध्यात्मिकता की औषधि से ही आत्मा और मन के रोगो को दूर कर सकते है ताकि वे स्वस्थ होकर सही रास्ते पर चलें । मानव इस रूप मे स्वस्थ हो जाता है तो परिवार, समाज, राष्ट्र या विश्व को स्वस्थ गति अपनाने में फिर कोई कठिनाई नही रहती है यदि सभी क्षेत्रो में मानव मूल्यो को ऊपर रखते हुए सभी कार्यों का सचालन किया जाता है तो उसमें किन्ही समस्याओ की उत्पत्ति भी नही होगी । समतापूर्वक किये गये सचालन मे सुव्यवस्था रहती है और समस्याए सदा ही विषमता की उपज होती है । इस कारण आत्मा और मन की समता का आध्यात्मिक मार्ग ही सारी समस्याओ का सुन्दर समाधान प्रस्तुत कर सकता है तथा स्थायी सुव्यवस्था की राह दिखा सकता है ।

सामान्य रूप से यह साधना का मार्ग है—सर्वहितैंपिता का मार्ग है, इसलिये अपनी ही वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो को पहले सशोधित करने का मार्ग है । इस मार्ग से आत्मा के भीतर छिपी हुई अपार शक्तियो को प्रकट कर सकते हैं तथा समग्र विश्व को सभी प्राणियो के

लिये समतापूर्ण विकास का स्थल बना सकते हैं। इस आध्यात्मिक विज्ञान के क्षेत्र में भारत अग्रणी रहा है और अभी भी बना हुआ है। जहा विदेशी अन्वेषक भौतिकता के क्षेत्र मे ही चक्कर काट रहे हैं और अब उत्सुकतापूर्वक आध्यात्मिक क्षेत्र की तरफ मुडे हैं, वहा भारतीयो के पास तो इस ज्ञान-विज्ञान का अनुपम भण्डार है। फिर भारतीय विदेशियो की तरफ अपने मार्गदर्शन के लिये देखें—यह कैसी विसगति है ? हमें ही आज अपनी आन्तरिक शक्तियो को पहिचान कर अपनी समस्याओ के जाल को भेदना चाहिये और इक्कीसवी सदी में समुन्नति की राह पर आगे बढना चाहिये।

सोचिये कि आपके नगर की पानी की टकी मे कोई किसी तरह का पॉयजन (जहर) मिलाने की चेष्टा करे और आपमें से किसी को उसका पता चल जाय तो क्या आप क्षण भर के लिये भी रुकेगे ? दौडकर पानी की टकी को जहर से बचाने के उपाय करेंगे क्योकि आप जानते है कि पानी की टंकी में अगर जहर मिला दियागया तो जोभी उसका पानी पियेगा, वह अपने प्राण बचा नही पायगा पानी की टकी मे जहर मिल जाता है तो वह पानी एक समस्या बन जाता है-ऐसी समस्या जिसका कुप्रभाव सब पर पडता है। आप अपनी जागरुकता से पानी को समस्या बनने से रोक देते है। ऐसी ही जागरुकता प्रत्येक समस्या के लिये पैदा होनी चाहिये लेकिन वह पैदा होगी जानकारी मिलने से तथा कार्य के कुप्रभाव की आशका से। यही जानकारी सारी समस्याओ के बारे मे आध्यात्मिकता से मिलती है। इसे अपनाइये और अपनी भीतरी शक्तियो को जागरुक बनाइये। इस जागरुकता से समस्याए पैदा ही नही होगी, उलझी हुई समस्याए सुलझ जायगी तथा उससे सर्वजन का हित सम्पादित होगा।

दि. २७-७-१९८६



जन्म-जन्मांतर

श्री श्रेयास जिन अन्तर्यामी····

वीतराग देव के अमूल्य उपदेशो को समझने का प्रयास इस स्थल पर किया जा रहा है। भगवन्तो ने जो ये उपदेश दिये है,उनका सार गणधरो ने गद्यात्मक या पद्यात्मक रूप से सकलित किया है। आवश्यकता है कि उन शब्दो मे से उस सार को हम निकालें और उस अमृत तुल्य सार को अपने वर्तमान जीवन मे प्रवेश कराए । यह अमृत इस आत्मा को अमर पद दिला सकता है। इस अमृत का रसास्वादन करने वाली आत्मा जन्म-जन्मांतर, जरा एव मरण के कष्ट से मुक्त हो जाती है।

यह उपदेशामृत इस आत्मा को ज्ञान और भान कराता है कि जन्म-जन्मातर का यह चक्र क्यो चल रहा है तथा किस विधि से इसे समाप्त किया जा सकता है ? जब जीव का जन्म होता है तो मृत्यु का प्रसग भी उसके साथ जुडा हुआ रहता है। आत्मा जब इस शरीर को भी त्यागती है तब मृत्यु होती है। इस जीवन मे भी बचपन और यौवन के बाद वृद्धत्त्व आता है जिस अवस्था मे शारीरिक शक्तिया जीर्ण-शीर्ण हो जाती हैं। ये प्रक्रियाए प्रत्येक प्राणी के जीवन और जीवनो मे चलती रहती है।

जिस शरीर में वर्तमान मे किसी जीव का जो जन्म हुआ है, उसका कारक उसी आत्मा के पास रहता है। इस आत्मा ने पूर्व-शरीर मे रहते हुए पूर्व जन्म में कुछ ऐसे कार्य किये-ऐसी क्रियाए की जिससे आत्मा को वर्तमान जीवन ग्रहण करना पडा है।

जन्म-जन्मांतर की प्रक्रिया–

जितने भाई-बहिन यहा उपस्थित है, उन सबका अपनी-अपनी माता की कुक्षि से जन्म हुआ है। यह जन्म इस जीवन के क्रिया-कलापो का फल नही है। यह पूर्वजन्म की क्रियाओ के परिणाम स्व-रूप मिला है। इस शरीर को ग्रहण करने योग्य कर्मों का उपार्जन एव सचय पूर्व जन्म मे हुआ जिनके कारण और जिनके अ कुरित पल्ल-वित व पुष्पित होने के सुफल रूप यह मानव तन प्राप्त हुआ है। यदि इस जन्म मे भी मानव वैसे ही योग्य कर्मों का उपार्जन एव सचय कर ले तो तदनुकूल ही अगला जन्म बन जाता है या ढल जाता है। इस जन्म मे बधे हुए वैसे कर्म उदय में आकर उनके अनुरूप प्रतिफल प्रदान करते हैं। भावी जीवन में इस आत्मा को कौनसा शरीर प्राप्त हो–यह इसीके इस जन्म के पुरुषार्थ पर निर्भर करता है।

इस आत्मा ने पूर्व जन्म में मनुष्य आयु का बन्ध किया तो इस जन्म मे उसे मनुष्य-तन की प्राप्ति हो गई। पूर्व में यदि ५० वर्ष की आयु बाधी तो आत्मा इस जन्म मे ५० वर्ष का उपयोग कर सकती है। यदि १००वर्ष का आयुबन्ध है और उसका दुरुपयोग नही किया जाय तो १००वर्ष का जीवन व्यतीत किया जा सकता है। यदि कुसगति से इस जीवन का दुरुपयोग होने लगे तो इस जीवन की दीर्घायु भी जल्दी ही खत्म हो जाती है। पूर्व जन्म में योग्य क्रियाओ से १००वर्ष का आयुवन्ध किया किन्तु इस जन्म मे अपनी क्रियाओ की शुभाशुभता के अनुसार १००, ५०, २५ या १५ वर्ष की आयु भी भोगी जा सकती है। और इसी के अनुसार अगले जन्म का आयु वन्ध भी किया जा सकता है।

इन सिद्धातो एव प्रक्रियाओ का ज्ञान यदि मानव सही तरीके से कर ले तो पूर्व जन्म में बाधी गई पूर्ण आयु का भोग इस जीवन में किया जा सकता है तथा अगले जन्म की भी श्रेष्ठ आयु बाधी जा

सकती है। इस जन्म की आयु तभी पूर्ण रूप से उपयोग में लाई जा सकती है जबकि इस का अपव्यय न हो—इसे निरर्थकतापूर्वक समाप्त न की जाय। नियमित रूप से यदि जीवन का निर्वाह किया जा सकता है तो यह जन्म और भावी जन्म दोनो सार्थक बन जाते हैं। जिस हार्दिक कला के साथ सबके प्रति व्यवहार किया जाना चाहिये—यदि वैसा किया जाय तो आत्मा इस जन्म में अपनी पूर्ण आयु भोग कर अगले जन्म के लिये देव-आयु या मनुष्य-आयु और उसमे भी उच्च कुल आदि मे जन्म ले सकती है। ये प्रक्रियाए स्वय इसी आत्मा के अधिकार में है।

प्रक्रिया इसी आत्मा के अधिकार में—

वर्तमान जीवन में आत्मा ने जिस शरीर, मन और इद्रियों की शक्तिया प्राप्त की है तथा साधन के रूप में जो हाथ, पैर, कान, नाक, आखें आदि उसे मिली है—उनका इस जीवन मे वह कैसा प्रयोग और उपयोग करे—यह उसी के अधिकार में पूर्ण रूप से रहा हुआ है जिसके आधार पर अगले जन्म का निर्माण होता है। यदि इन सब शक्तियो व साधनो का प्रयोग तथा उपयोग यह आत्मा विवेक एवं यत्नपूर्वक करे तो अपने लिये सुख एव अविवेक व अयत्नपूर्वक करे तो अपने लिये दु ख का सृजन वह स्वय ही करती है। इस जीवन की प्राप्तिया भी इसी आत्मा ने अपने योग्य पुरुषार्थ से उपलब्ध की है तथा अपने ही योग्य पुरुषार्थ से इस जीवन मे वही अगले जीवन की रूपरेखा का निर्धारण करती है।

जितनी बाह्य प्रक्रियाए जैसे चलना, फिरना, बैठना, उठना, सू घना, सुनना, चखना, स्पर्श करना आदि होती हैं, वे सबकी दृष्टि में आती हैं। सब यह भी अनुभव करते हैं कि ये प्रक्रियाए स्वत नही होती हैं। इन क्रियाओ को करने वाला कर्त्ता अवश्य इसी शरीर में रहा हुआ है। व्याकरण का नियम है कि कर्त्ता के बिना क्रिया नही होती। प्रत्येक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ क्रिया करता ही ही रहता है। वह बिना क्रिया के कभी नही रहता। ऊपर से ऐसा ज्ञात होता है कि कान सुनने की, आंख, देखने की, नाक सू घने की क्रिया करता है और इसी प्रकार जिह्वा चखने की व त्वचा स्पर्श करने

की क्रिया द्वारा आनन्द का अनुभव लेने का प्रयास करती है। इसमें जिन मानवो ने इस शरीर विज्ञान का सागोपाग एव परिपूर्ण अध्ययन नही किया है, उनका ध्यान ऊपरी तौर का ही रहता है। शरीर की क्रियाओं के रहस्य को समझे बिना मानव वास्तविकता को नही जान सकता है। अत वह असमजस में पडा रहता है कि यह सब कैसे क्या होता है ? आश्चर्य तो यह है कि कई मानव इस जीवन में इस रहस्य को समझे बिना ही नया शरीर धारण करने के लिये इस जन्म से विदा भी ले लेते हैं।

क्रिया से कर्त्ता को पहिचानो—

ज्ञानीजन कहते हैं कि वर्तमान में जो उपलब्धिया तुम्हारे पास हैं, उनके हेतु की खोज करो कि वे किस कारण से तुम्हे प्राप्त हो सकी हैं ? उसे जानकर वर्तमान जीवन की अपनी क्रियाओ को इस रूप में सुव्यवस्थित बनाओ कि चिरकाल से जिस सुख की अभिलाषा कर रहे हो, वह सुलभ हो जाय। वस्तुत जब तक कर्त्ता का ज्ञान नही होता है तब तक क्रिया का ज्ञान भी स्पष्ट नही हो पाता है। किसी व्यक्ति ने हाथ उठाया तो व्यवहार मे ऐसा कहा जाता है कि हाथ उठ रहा है, लेकिन हाथ स्वत. नही उठता है बल्कि उठाया जाता है। मुंह स्वय नही बोलता है लेकिन बुलवाया जाता है। तो चिन्तन कीजिये कि फिर हाथ उठाने वाला कौन ? बोलने वाला कौन ? इस प्रश्न का सही उत्तर और इस समस्या का सही विज्ञान जिसने इस मानव-तन से प्राप्त करने का प्रसग उपस्थित कर लिया, वही इस जीवन के रहस्य को जान सकता है। और वही समग्र मानव जीवन के रहस्य को भी जान सकता है। जो एक पदार्थ को जान लेता है, वह ससार के सभी पदार्थों को भी जान लेता है और जो सभी पदार्थों को जान लेता है, वह एक पदार्थ को भी जान लेता है।

इस हेतु क्रिया से कर्त्ता को पहिचानने की ओर आगे बढा जाना चाहिये। आज के वैज्ञानिक विश्व को जानने के लिये तो बहुत प्रयत्न कर रहे हैं, लेकिन स्वय को जानने का वे कितना प्रयत्न कर रहे हैं ? यदि यही नही जाना गया कि वर्तमान जीवन की इन सारी उपलब्धियो को उपलब्ध कराने वाला कौन है, तब तक जो कुछ जाना

है उससे सन्तोष कैसे किया जा सकता है ? डॉ अलबर्ट आइन्स्टीन का पश्चिमयी देशो के वैज्ञानिको मे सबसे ऊचा नाम है। जब वे अपनी मृत्यु शैय्या पर अन्तिम श्वास की घडिया गिन रहे थे तब उनके पास अनेक वैज्ञानिक बैठे हुए थे। वे सब आइन्स्टीन के कार्यों की बहुत प्रशसा कर रहे थे, फिर भी उनके चेहरे पर गमगीनी छाई हुई थी। देखकर एक वैज्ञानिक ने पूछ ही लिया—आपकी आकृति पर इतनी उदासी क्यो छाई हुई है ? वे बोले—दोस्तो, मेरा यह जीवन समाप्त होने वाला है, पर मेरी कामना है कि मुझे अगले जन्म मे भी यही मानव जीवन मिले। कारण, इस जीवन में मैं भौतिक अनुसधानों में ही व्यस्त रहा और वह मूल अनुसधान नही कर सका जो मेरे अपने अस्तित्व से सम्बन्ध रखता है। इसलिये आगे फिर जीवन मिले-इसकी मैं चिन्ता कर रहा हू। वह मिल जाय तो अगला पूरा जीवन अपने निजत्त्व की शोध मे व्यतीत करूगा। यह शोध मैं साधु बनकर करूगा।

सम्भव है उन विख्यात लोगों के लिये भी निजत्त्व का ज्ञान कर पाना कठिन रहता हो लेकिन मैं पूछू कि क्या वह आपके लिये भी कठिन है ? आप तो प्रारम्भ मे तीर्थंकर देवो के अध्यात्मज्ञान को सुनते-समझते रहे हैं--इसलिये उपयोग लगा कर चिन्तन-मनन करें तो निजत्त्व को या कि समस्त क्रियाओ के कर्त्ता को आसानी से पहिचान लेंगे। हाथ, कान, नाक आदि को निर्देश मिलता है कि वे सागोपाग अपनी-२ निर्देशित क्रियाए करने लग जाते है। यह निर्देश देने का कार्य मन करता है, लेकिन मन भी स्वयमेव क्रिया नही करता है। मन का भी स्वामी और जो विज्ञानवान् आत्म-स्वरूप है, वही आदेश-निर्देश करता है। क्रियाओ का वही मूलकर्त्ता होता है।

आचाराग सूत्र मे कहा है—जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया। ज्ञान विज्ञान की धारिणी आत्मा ही मन के माध्यम से और इद्रियो के साधन से समस्त क्रियाओ को करने वाली है। मन को आप रोक भी सकते हैं तथा चलायमान भी बना सकते हैं। आप सुनते हैं कि बडी मशहूर नई फिल्म आई है सोचते हैं कि मधुर गाने भी सुनेगे और सुन्दर दृश्य भी देखेंगे। लेकिन उस समय आत्मा कडाई से यह आदेश दे दे कि फिल्म देखने नही जाना है तो क्या मन और इद्रिया

अपने आप सिनेमाघर में पहुंच जावेंगे ? वे रुक जाते हैं तो सिनेमाघर जाने की क्रिया नहीं होती है। इसलिये आप चाहे वह क्रिया कर सकते हैं और न चाहे उस क्रिया को रोक सकते है। मन का निरोध और नियन्त्रण करके चलें—यह भी आपके वश मे है और उसे अपनी असावधानी से अनुशासनहीन बना दे—यह भी आप ही के वश में है। कौनसी क्रिया करणीय है और कौनसी क्रिया अकरणीय—इसका निर्णय भी आप ही को करना चाहिये—उसे बाहरी प्रलोभनो आदि पर निर्भर नही रखना चाहिये। आप बेभान हो जाओ और मन को छुट्टा छोड दो तो आप न तो इस जीवन में और न ही अगले जीवन के लिये कोई सफल क्रिया कर पायेंगे। निजत्त्व की पहिचान मन के निरोध में रही हुई है कि हर क्रिया के लिये अपना अधिकार चलाओ जो वास्तव मे आत्मा को ही प्राप्त है।

आप अपने मकानों या कार्यालयो मे बिजली के पखे लगवाते हैं और चलाते हैं, बताइये पखा लगाया किसने और चलवाया किसने? आप हवा का आनन्द ले रहे हैं और कह रहे हैं कि यह पंखे के चलने की वजह से है। लेकिन जानकार जानते हैं कि पखा न तो अपने आप लगता है और न अपने आप चलता है। हकीकत में वह तो चलाया जाता है और वह भी बटन के अनुशासन के साथ मे कि उसे दबा दिया तो पखे को चलना ही होगा और उसे ऊपर उठा दिया तो पखे को रुक ही जाना होगा। एक अजानकार ग्रामीण ने समझिये कि उस पखे को देखा जो पूरे वेग से चल रहा था और उसे बन्द करना चाहा वह पखडियो को पकड कर पखे को बन्द करने हेतु उछल-कूद करने लगा। क्या उससे पखा बन्द हो जायगा या उस क्रिया से वह अपने आपको लहूलुहान बना देगा ?

मन-सचालन के बटन को समझिये-

आप अपने आपको जानकार मानते हैं या उस ग्रामीण के समान अजानकार ? अपन को जानकार ही बतायेंगे ? पखे के बटन के बारे मे तो आपको जानकारी हो सकती है लेकिन गहरे उतर कर जाच करें कि मन के बटन की जानकारी भी आपको है या नही ? जैसे वह ग्रामीण चलते हुए उस पखे को बन्द करना चाहता था, क्या आप उस

विधि से अपने मन का निरोध कर पायेंगे ? इसके लिये आपको मन के बटन को चलाने का ज्ञान और विवेक जगाना पडेगा कि वे कौनसे बटन है जिनको दबा कर मन को सही मार्ग पर गतिशील बनाया जा सकता है और उन बटनो को ऊपर उठाने की कौनसी विधि है कि जिसके कारण अनियन्त्रित मन को रोका जा सके। मन की गति को आत्मा पहिचान जाय और अपनी स्थिति को समझ जाय तो उसे समस्त क्रियाओ के स्वय ही कर्त्ता होने का ही अपना परिचय नही मिलेगा, बल्कि अति कठिन क्रियाओ को सम्पादित करके उच्चतम विकास साधने का सकल्प और सामर्थ्य भी उसे प्राप्त हो जायगा।

आज का मानव अपने मन को ही सबकुछ मानता है और अपने मूल अस्तित्त्व को ही नही समझता है—यह उसका घोर अज्ञान हैं। किसी मकान मे जावे और किरायेदार को ही मकान मालिक मान कर व्यवहार करने लगे तो क्या उससे कोई काम पटेगा ? और मन तो किरायेदार क्या, इस आत्मा का सिर्फ नौकर है या यो कहलें कि सेठ का मुनीम है। मुनीम सारे व्यवसाय को सम्हालता है। दूर-दूर रही हुई कम्पनियो को निर्देश भेजता है लेकिन किसके आदेश से ? दूर बैठे हुए कर्मचारी यही जानते हैं कि उन्हे मुनीमजी के निर्देश का पालन करना है क्योकि सेठ से उनका कोई सीधा सम्बन्ध नही होता है। तो क्या मुनीमजी उस सारे व्यवसाय के स्वामी मान लिये जायेंगे ? सेठ सजग रहता है और देखता है कि मुनीम उसके हितो के अनुसार ही कार्य कर रहा है अथवा नही। जहा उसे जरा सी भी आशका होती है कि मुनीम बीच मे ही अपना स्वार्थ साध रहा है, वैसी दशा मे क्या वह सेठ एक क्षण के लिये भी उस मुनीम को बर्दाश्त करेगा ? तुरन्त उस पर वह अपनी लगाम कस देगा। जैसा सेठ और मुनीम का नियन्त्रक सम्बन्ध होता है, वैसा ही सम्बन्ध आत्मा और मन के बीच मे समझिये।

आत्मा और मन के बीच के इस नियन्त्रक सम्बन्ध से जो अव्यवस्था होती है वह मात्र इस आत्मा की असावधानी से। मुनीम कुछ भी करता जाय और सेठ उसे टोके रोके नही तो यही होगा कि मुनीम सेठ को बरबाद करता जायगा यही होता है मन की अनियन्त्रित

गति से भी । इस विश्लेषण का अभिप्राय यही है कि आत्मा ही सम्पूर्ण क्रिया-कलापो की नियन्ता है और वही अपनी जवाबदारी से आखे मूदती है तब मन और मन के माध्यम से इन्द्रिया उन विषयो मे रमण करने लग जाती है जो इसी आत्मा के मूल स्वरूप और स्वभाव को हानि पहुचाने वाले होते हैं । आत्मा की यह असावधानी और नियत्रणहीनता ही जन्मजन्मातर का कारण बनती है ।

जन्म-जन्मांतर का हेतु एवं सशोधन-

जब मानव यह समझले कि उसकी स्वय की आत्मा याने कि वह स्वय ही अपने बन्धन के लिये और जन्म-जन्मातर के कष्टो के लिये जिम्मेदार है, तब उसकी जागृति और कर्मनिष्ठा की आवश्यकता उपस्थित होती है कि वह विवेक, त्याग और सयम की साधना साध-कर अपने मन, वचन और काया का व्यापार चलावे । यह जिम्मेदारी आ जाने और समझ जाने पर ही योग-व्यापार को विशुद्ध बना लेने का पुरुषार्थ जग सकेगा । क्योकि इस विशुद्धता की वृद्धि पर ही जन्म-जन्मातर के चक्र से मुक्ति मिल सकेगी ।

जन्म-जन्मातर का हेतु समझ लेने के बाद यह भी समझ लेना चाहिये कि जन्म क्या होता है, मरण क्या होता है और जन्म तथा मरण को सुधारा कैसे जा सकता है ? जन्म की शास्त्रीय व्याख्या इस रूप मे की गई है कि पूर्व भव का स्थूल शरीर छोडकर तैजस और कार्माण शरीर के साथ विग्रह गति द्वारा आत्मा अपने नवीन उत्पत्ति स्थान मे जाती है वहा नवीन भव योग्य स्थूल शरीर के लिये पहले पहल जब आहार ग्रहण करती है, तब वह उसका जन्म कहलाता है । इस प्रकार के जन्म के तीन भेद कहे गये हैं—(१) सम्मूर्छिम जन्म—माता-पिता के सयोग के बिना उत्पत्ति स्थान मे रहे औदारिक पुद्गलो को शरीर के लिये ग्रहण करना सम्मूर्छिम कहलाता है । (२) गर्भजन्म उत्पत्ति स्थान मे रहे हुए पुरुष के शुक्र और स्त्री के शोणित के पुद्गलो को शरीर के लिये ग्रहण करना गर्भजन्म है । माता-पिता का सयोग होने पर जिसका शरीर बने उसके जन्म को गर्भजन्म कहते हैं । गर्भ से उत्पन्न होने वाले जीव भी तीन प्रकार के होते हैं—(अ) अण्डे से उत्पन्न होने वाले अडज (ब) पोतज और (स) जरायुज । उपपात

जन्म—जो जीव देवो की उपपात शैय्या तथा नारकीयो के उत्पत्ति स्थान में पहुचते ही अन्तर्मुहुर्त मे वैक्रिय पुद्गलो को ग्रहण करके युवावस्था को पहुच जाय, उसके जन्म को उपपात जन्म कहते हैं ।

इस प्रकार चार गति एव चौरासी लाख योनियो मे संसारी आत्मा का जो परिभ्रमण होता है उनमे उपरोक्त तीन प्रकार के जन्मो का ही आस्तित्व है । नवीन जन्म मे आत्मा को किस प्रकार के जन्म का कैसा शरीर उपलब्ध होता है—यह उसके पूर्व जन्म में बधे आयु आयु कर्म के अनुसार ही होता है ।

एक जन्म के बाद प्राप्त जीवन की कालावधि जब समाप्त हो जाती है तो वह उस जीवन का मरण कहलाता है । मरण का भी विशेप महत्त्व बतलाया गया है क्योकि सारे जीवन भर तक असावधान रहने के बाद भी यदि आत्मा अपने जीवनान्त के समय पूर्ण सावधान हो जाय और अपने कृत्याकृत्यो की शुद्ध आलोचना करते हुए विशुद्ध भावो की प्राप्ति करले तब भी कई अशो मे उसके उस जीवन का सशोधन हो जाता है । यदि उस समय मे आगामी जन्म का आयुबन्ध हो तो वह भी शुभता लिये हुए पुण्य रूप मे बध सकता है । इस दृष्टि से मरण दो प्रकार का कहा गया है—(१) सकाम मरण—विषय भोगो से निवृत्त होकर चारित्र मे अनुरक्त रहने वाली आत्मा की आकुलता रहित एव सलेखना करने से प्राणियो की हिंसा रहित जो मृत्यु होती है, वह सकाम मरण है । ऐसे जीवो के लिये मृत्यु भयप्रद न रहकर उत्सव रूप बन जाती है । सकाम मरण को इस रूप मे पडित मरण भी कहा जाता है (२) अकाम मरण—विषय भोगो मे लिप्त रहने वाले जीवो की न चाहते हुए भी अनिच्छापूर्वक जो मृत्यु होती है, वह अकाम मरण है । इसे बाल (अज्ञान) मरण भी कहते हैं ।

मरण के इन प्रकारो से स्पष्ट होता है कि आत्मा अपनी क्रियाओ के स्वरूप को किस प्रकार जन्म और मरण दोनो का सशोधन करके सकाम मरण को प्राप्त हो सकती है । यदि आत्मा इस सासारिकता मे ही रची-पची और अपने मूल स्वभाव के प्रति बेभान तथा पुरुषार्थहीन रह जाय तो उसे अकाम मरण की प्राप्ति होती है जो उसके इस जन्म और अगले जन्म की अशुभता का सकेत करता है ।

मरण का प्रकार जीवन-स्वरूप का परिचायक–

एक जन्म मे आयुष्य पूरा होने पर आत्मा के शरीर से अलग होते समय अथवा शरीर से प्राणो के निकलते समय जिस रूप मे भावो की स्थिति परिलक्षित होती है, उससे उस जन्म के पूरे जीवन के स्वरूप की एक झलक मिल जाती है। शास्त्रो में प्रकारान्तर से मरण के सत्रह भेद भी बताये गये हैं जिनके द्वारा जीवन स्वरूप के विविध स्वरूपो का ज्ञान होता है तथा यह भी अनुमान लगता है कि मरण के उस प्रकार के फलस्वरूप उस आत्मा को किस तरह के अगले जन्म की प्राप्ति होगी।

मरण के सत्रह प्रकार इस तरह है—

(१) आवीचिमरण—आयु कर्म के भोगे हुए पुद्‌गलो का प्रत्येक क्षण में अलग होना आवीचिमरण है। प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण होते हुए जीवन स्वरूप से या कि आवीचिमरण से जागृति और सावधानी ली जा सकती है।

(२) अवधि मरण—नरक आदि गतियो के कारणभूत आयु-कर्म के पुद्‌गलो को एक बार भोगकर छोड देने के बाद जीव फिर उन्ही पुद्‌गलो को भोगकर मृत्यु प्राप्त करे तो बीच की अवधि को अवधि मरण कहते है।

(३) आत्यन्तिक मरण—आयु कर्म के जिन पुद्‌गलो को एक बार भोगकर छोड दिया है यदि उन्हे फिर न भोगना पडे तो उन पुद्‌गलो की अपेक्षा जीव का आत्यन्तिक मरण होता है।

(४) वलन्मरण—सयम या महाव्रतो से गिरते हुए व्यक्ति की मृत्यु वलन्मरण होती है।

(५) वशार्त मरण—इन्द्रिय-विषयो मे फसे हुए व्यक्ति की मृत्यु वशार्त मरण होती है।

(६) अन्त शल्य मरण—जो व्यक्ति लज्जा या अभिमान के कारण अपने पापो की आलोचना किये बिना ही मर जाता है उसकी मृत्यु अन्त शल्य मरण है ।

(७) तद् भव मरण—तिर्यंच या मनुष्य भव में आयुष्य पूरा करके फिर उसी भव का आयुष्य बाध लेवे और दुवारा उसी भव में उत्पन्न होकर मृत्यु को प्राप्त हो वह तद्भव मरण हैं ।

(८) बाल मरण—व्रत रहित प्राणियो की मृत्यु बाल मरण है।

(९) पडित मरण—सर्व विदति साधुओ की मृत्यु को पडित मरण कहा जाता है ।

(१०) बाल पडित मरण—देश विरति श्रावको की मृत्यु बाल पडित मरण कहलाती है ।

(११) छद्मस्थ मरण—केवल ज्ञान प्राप्त किये बिना छद्मस्थ अवस्था में मृत्यु हो जाना छद्मस्थ मरण है ।

(१२) केवलि मरण—केवल ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् मृत्यु होना केवलि मरण है ।

(१३) वैहायस मरण—आकाश में होने वाली मृत्यु को वैहायस मरण कहा है । वृक्ष की शाखा आदि से बाध देने पर या फासी आदि से मृत्यु होना भी वैहायस मरण है ।

(१४) गिद्ध पिट्ठ मरण—गिद्ध, शृगाल आदि मासाहारी प्राणियो द्वारा खाया जाने पर होने वाला मरण गिद्ध पिट्ठ मरण है । इस प्रकार की मृत्यु महासत्त्वशाली मनुष्य प्राप्त करते हैं क्योकि वे अपने शरीर को मासाहारी प्राणियो का भक्ष्य बना देते है । किंतु यदि यह मरण विवशता या अज्ञान पूर्वक अथवा कषाय के आवेश मे हो तो वह बाल मरण है ।

(१५) भक्त प्रत्याख्यान मरण—यावत् जीवन तीनो या चारों आहारो का त्याग करने के बाद जो मृत्यु होती है वह भक्त प्रत्याख्यान मरण है ।

(१६) इंगिनी मरण—यावत् जीवन चारो आहारो के त्याग के वाद निश्चित स्थान मे हिलने-डुलने का आगार रख कर जो मृत्यु होती है उसे इंगिनी मरण कहते हैं। वह दूसरो से सेवा नही कराता है।

(१७) पादपोपगमन मरण—सथारा करके वृक्ष के समान जिस स्थान पर जिस रूप मे एक वार लेट जाय फिर उसी स्थान पर उसी रूप मे लेटे रहना और उस प्रकार मृत्यु हो जाना पादपोपगमन मरण है।

मरण के उपरोक्त प्रकारो से यह स्पष्ट होता है कि अमुक प्रकार के मरण को प्राप्त करने वाली आत्मा ने अपना यह जन्म और जीवन किस रूप मे व्यतीत किया है क्योकि उस जीवन की क्रियाओ के अनुसार या संशोधन रूप मरण का वह प्रकार प्राप्त होता है।

इस रूप मे जन्म-जन्मांतर के चक्र को तोडने तथा आत्म स्वरूप को प्रकाशित करने की दृष्टि से मरण स्वरूप का श्रेष्ठ बनना सुगति का सकेत कहा जायगा।

जन्म-जन्मांतर की समाप्ति

जन्म और मरण के रहस्यो तथा अपनी ही आत्मा के शक्ति पुंजो का अवलोकन कर लेने के वाद अन्त करण में यह स्फुरणा अवश्य जागृत होगी कि वन्धन एव कष्ट स्वरूप जन्म-जन्मातर के इस चक्र को समाप्त ही क्यो नही कर दिया जाय। यही स्फुरणा आत्मा को उसके अपने मूल स्वरूप तथा स्वभाव में स्थिति वन जाने की अपूर्व प्रेरणा देती है। तब आत्म जागृति का यही मूल मत्र वन जाता है।

अनादिकाल मे यह आत्मा ससार में भटकती हुई जन्म-जन्मांतर के चक्र मे परिभ्रमित हो रही है आत्मा अपनी इस मूर्च्छा को मिटावे और अन्तरावलोकन करके अपने दिव्य स्वरूप का दर्शन करे-तभी उसकी समस्त क्रियाओ का रूपातरण हो सकता है। वे अशुभता शुभतामय वन सकती हैं। ज्ञान शुद्ध बने, दर्शन शुद्ध बने तथा चारित्र

शुद्ध बन जावे तब आत्म स्वरूप शुद्धता के शिखर की ओर आगे बढने लग जाता है। आत्म स्वरूप की अभिवृद्धि बनती हुई शुद्धता ही कर्म बधनो को नष्ट करती है तथा जन्म-जन्मातर के चक्र को परिसीमित करतो हुई एक दिन समाप्त करती है। जन्म-जन्मातर समाप्त होकर आत्मा सिद्ध बन जाय-यही सर्वोच्च लक्ष्य है।

दि २८-७-१६८६



अन्य तत्त्व होता है—इस विषय को लेकर मनोवैज्ञानिकों या विद्वानो मे मतभेद हो सकते है, किंतु ये सब मतभेद मनुष्य की अपूर्ण अवस्था के ही द्योतक है । जब तक मानव अपूर्ण अवस्था मे रहता है तब तक उस अपूर्ण अवस्था के फलस्वरूप मतो की भिन्नता हो सकती है। परन्तु परिपूर्ण आत्माओ की प्रक्रियाए एक-सी ही होती हैं । उनमे किसी मतभिन्नता का कभी कोई प्रश्न ही पैदा नही होता है । यही कारण है कि तीर्थंकर देवो के वचन समान रूप से सबके लिये हित-कारी एव सुखकारी होते है ।

किन्तु तीर्थंकर देवो की आत्माओं का विकास भी पहले से ही प्राप्त या स्वयमेव नही हो जाता है । वे अपने ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की साधना से स्वान्वेषण करते हैं—स्व का अन्वेषण और वैस्व को पहिचानते ही नहीं-स्व को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त कर देते है ।

स्वान्वेषण का कार्य कोई भौतिक प्रयोगशालाओ में सम्पन्न नही होता है । यह तो आतरिक जगत् का वस्तु विषय होता है । तीर्थंकर देव भी अपने आतरिक जगत् मे विचरण करते है । वे पूर्व के सिद्धांतो को भी ग्रहण नही करते है, अपितु स्वय खोजी बनते हैं—विचारणा और साधना की गहराइयो में उतरते हैं । उसी गहराई से वे चिन्तन के मुक्ताकण निकालते हैं । जब उन्हे केवलज्ञान और केवल दर्शन की उपलब्धि हो जाती है तथा वे अपनी अनुभूतियो की परि-पक्वता का रसास्वादन कर लेते हैं तभी सर्व जन-जागरण का उपदेश फरमाते हैं । केवल ज्ञान एव केवल दर्शन को प्राप्त करके वे अपनी आत्मा की परिपूर्णता पा लेते हैं और उसका बोध होने पर उपदेश की अनुभूतिया जैसी थी, वैसी उनको उपलब्ध हो जाती है । यह परि-पूर्णता का लक्षण होता है । शरीर और मन की समस्त क्रियाओ का मूल तब स्पष्ट रूप से वे आत्म तत्त्व मे समाविष्ट देख लेते हैं । ऐसी दिव्य दृष्टि के आधार पर ही आज जो उनकी वाणी उपलब्ध है आधा-रित है ।

कल्पना करे कि दो पुरुष जन्म से ही अधे हैं । जन्म के बाद उन्होने न कभी सूर्य को देखा है, न चन्द्र को लेकिन उन के सामने लोग सूर्य और चन्द्र की महिमा कहते रहते हैं । चू कि वे स्वय तो नही

देखते, पर लोगो के कहने के अनुसार वे अपनी कल्पनाओ मे सूर्य और चन्द्र के अनुमानित चित्र अ कित कर लेते है । किन्तु वे स्पष्ट अनुभूति तो नही कर पाते हैं कि सूर्य का स्वरूप कैसा है ? सयोगवश उनमे से से एक जन्माध को नेत्र ज्योति प्राप्त हो जाती है, तब वह जिस दृष्टि से सूर्य को देखेगा और उसे उस सूर्य को देखने पर जो स्पष्टता प्राप्त होगी, वह आम लोगो से भिन्न होगी । और दूसरे जन्माध को भी नेत्र ज्योति प्राप्त हो जाती है तो वह भी सूर्य को उसी रूप मे देखेगा । इसी प्रकार तीर्थंकर देव जब तक अपूर्ण अवस्था में रहते हैं—साधना में सलग्न होते हैं तब तक ज्ञान स्थिति कुछ और होती है लेकिन साधनानुरूप उच्चतम ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद वे परिपूर्ण ज्ञानी बन जाते हैं । उनकी वह ज्ञान दृष्टि अलौकिक हो जाती है ।

स्वान्वेषण की परिपूर्णता

यह ज्ञान की जो परिपूर्णता होती है, समझिये कि वही स्वान्वेषण की भी परिपूर्णता है, क्योकि अपनी खोज पूरी हो जाने के बाद ही ज्ञान के अनन्त प्रकाश में विचरण करना सम्भव बनता है । जिन खोजा, तिन पाइया, गहरे पानी पैठ । गहराई के तले तक पहुंचने से ही स्वान्वेषण का भगीरथ कार्य सम्पादित होता है । स्वान्वेषी ही केवल ज्ञानी बनता है—तीर्थंकर होता है ।

वर्तमान में ऐसे परम पुरुष साक्षात् में उपलब्ध नही है । फिर भी उनकी वाणी को श्रवण करने का-मनन और चिन्तन करने का सुयोग तो हमे मिला ही है । प्रश्न यही है कि ऐसे सुयोग का कितना सदुपयोग किया जाता है तथा उनकी वाणी से कितना क्या ग्रहण किया जाता है । यह सम्भव है कि इस परम पावन एवं स्पष्ट वाणी को श्रवण करके भी श्रोताओ में मतभिन्नता आ सकतीहै क्योकि श्रोताओ का आतरिक जीवन परिपूर्ण नही होता है और उतना निर्मल नही होता है अगर श्रोताओं की दृष्टि भी निर्मलतर होती चली जावे तो आध्यात्मिक जीवन मे मत भिन्नता का प्रश्न नही उठेगा । अपूर्ण अवस्था के कारण उन आध्यात्मिक जीवन जीने वाले विशिष्ट व्यक्तियो को देखकर सामान्य लोगो के मन मे भी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण जन्म ले सकते हैं किन्तु उन्हे भी आध्यात्मिकता के प्रकाश में लाकर एकरूपता दे सकते है । स्वान्वेषण

की दिशा में गति करने से पहिले मतभिन्नता जटिल हो सकती है, किन्तु जब स्वान्वेषण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है तो वह जटिलता समाप्त होने लगती है क्योंकि अपना स्वय का ज्ञान-प्रकाश फैलने लगता है । स्वान्वेषण की परिसमाप्ति पर तो ज्ञान का अनन्त प्रकाश व्याप्त हो जाता है और परिपूर्णता उसका वरण कर लेती है । तब मत-भिन्नता का अणुमात्र भी शेष नहीं रहता ।

दार्शनिक मतभिन्नता के मुख्य बिंदु

दार्शनिक क्षेत्र में दिखाई देने वाली मतभिन्नता का भी मुख्य कारण है कि अन्तर्ज्ञान का प्रकाश परिपूर्ण नही बन पाया है । इस मतभिन्नता का इस दृष्टि से यह भी कारण माना जाना चाहिये कि स्वान्वेपण की प्रक्रिया अभी अपूर्ण है । आज यह मतभिन्नता तीन प्रकार की देखी जाती है—(१) नियतिवाद (२) आत्मवाद एव (३) नियति आत्मवाद ।

यह दार्शनिक चर्चा है अत. इसे सुव्यवस्थित मस्तिष्क के साथ ही समझा जा सकेगा । मैं आज के युग में भी ऐसी सूक्ष्म बातों को क्यो कहता हूं ? मैं सोचता हू कि सामान्य जनता के मनोनुकूल मनोरजन की बातें ही कह दू किन्तु मेरी मान्यता है कि ऐसी बातें कभीर हितावह नही होती है और विकास की भरपूर प्रेरणा नही देती हैं । अन्तःकरण को जागृत बनाने के लिये सिद्धात, दर्शन और अध्यात्म की गहरी बातें भी बतानी चाहिये और जिज्ञासु श्रोताओ को वे बातें ध्यानपूर्वक सुननी चाहिये । यह सही है कि आज बाहर का वायुमंडल आप लोगो को बाहर की तरफ ही भटकाने वाला है और सामान्यतया आत्मिक-सिद्धातो में रुचि लगाने को बाधित करने वाला है । इसलिये मेरी विशेष चेष्टा रहती है कि मैं दार्शनिक बातें आपको बताऊं, आपके ध्यान को आत्मा की ओर केन्द्रित करूं तथा धर्म क्रियाओ में आपकी रुचि को जगाऊं ।

आज विश्व की और भारत की दशा को ही देखिये । इस भारतीय भूमि पर रहने वाले मानवो की भी क्या कुछ प्रक्रियाए चल रही हैं, उनका बारीकी से अध्ययन करें तो प्रबुद्ध मन की खिन्नता ही

बढती है । अपनी समुन्नत दार्शनिकता एव संस्कृति के बावजूद वे पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित हो रहे हैं खान-पान, वेशभूषा में भी पश्चिम की नकल कर रहे हैं । यही नही, बडा आदमी भी उसको मान रहे हैं जो पूरी तरह से पश्चिमी पद्धति का अनुकरण करता है । क्या यह आत्म-गौरव की विस्मृति नही है ?

अब समय आ गया है कि अपनी परम पावन एव आध्यात्मिक सस्कृति तथा आत्मोन्मुखी दर्शन को समझें और समझ कर तदनुसार अपने आचरण को ढालें ।

दार्शनिक मतभिन्नता के जिन मुख्य बिंदुओं का मैंने ऊपर उल्लेख किया है, उनके विषय मे सक्षिप्त अवधारणा ही मै आपको बताऊगा इस उद्देश्य से कि आप स्वय विचार करे एव स्वान्वेषण की दिशा में आगे बढे ।

नियति का अर्थ होता है भाग्य । यो दार्शनिक विचारधाराओं मे मान्यता के दो मुख्य बिंदु रहे हैं—भाग्य और कर्म । जहा पुरुषार्थ कर्म मे जुडा हुआ माना गया है, वहा भाग्य निष्क्रियता की ओर सकेत करता है । जो कुछ होना है, वह भाग्य के आधार पर होगा—ऐसा नियतिवादी मानता है । उसके लिये स्वय करना कोई महत्त्व नही रखता । किसी भी उद्देश्य के लिए कोई कर्म करना यह नियतिवादी की मान्यता में नही होता है । नियतिवाद को मानने वाले 'खाओ, पिओ और मौज करो की उक्ति मे विश्वास करते हैं । भौतिकता ही उनके लिये सब कुछ होती है ।

नियतिवाद के विपरीत आत्मवाद आध्यात्मिकता, कर्म और पुरुषार्थ का प्रतीक होता है । आत्मवादी उसे कहते है जो नरक,तिर्यंच, मनुष्य, देवगति आदि भाव दिशाओ तथा पूर्व पश्चिम आदि द्रव्य दिशाओ मे आने जाने वाले आणविक अमूर्त आदि स्वरूप वाली आत्मा आदि को मानता है । आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना—यही आत्मवाद है । जो इस स्वरूप वाली आत्मा को नही मानते, वे अनात्मवादी हैं । सर्व व्यापी, एकात नित्य या क्षणिक आत्मा को मानने वाले भी अनात्मवादी ही है । क्योकि सर्वव्यापी, नित्य या क्षणिक आत्मा मानने पर

उसका पुनर्जन्म सम्भव नही है । आत्मवादी ही वास्तव में लोकवादी, (जहा जीवों का गमनागन सम्भव है ऐसे विशिष्ट आकाश खण्ड रूप लोक को मानने वाला) कर्मवादी (ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के अस्तित्त्व को मानने वाला) तथा क्रियावादी (कर्म के कारण आत्मा के व्यापार याने क्रिया को मानने वाला) होता है । कर्मवाद की दृष्टि से इन तीनो मान्यता वाले सत्य से दूर माने गये हैं जो यदृच्छा (जैसी भगवान् की मर्जी) मानते है या नियतिवाद मे विश्वास रखते हैं अथवा ईश्वर जगत् को रचने और चलाने वाला है—ऐसी मान्यता फैलाते हैं। चू कि साख्य मत वाले आत्मा को निष्क्रिय याने क्रियारहित मानते हैं तो वे भी सय और प्रमाण मे दूर कहे गये हैं ।

मान्यता का एक वर्ग ऐसा भी है जो किंचित् रूप से नियतिवाद को भी मानता है तो किंचित् रूप मे आत्मवाद को भी मानता है । उसकी एक प्रकार से मिश्रित मान्यता होती है ।

इस प्रकार नियतिवाद जहा अकर्मण्यता का पोषक है और निष्क्रियता की सीख देता है, वहा आत्मवाद ही पुरुष को पुरुषार्थ सिखाता है तथा अपनी नियति का स्वय ही निर्माण करने की प्रेरणा देता है । इस कारण आत्मवाद ही जीवन-विकास का सच्चा मार्ग है । आत्मवादी जहां लोक और ससार को मानता है, वहा कर्म और क्रिया को भी मानता है कि आत्मा जैसी करणी करेगी, वैसा फल उसे भोगना पड़ेगा । एक आत्मवादी आत्मा का मोक्ष भी मानता है । उस सिद्धात्मा का स्वरूप ही परमात्मा का स्वरूप है जिसका सिद्ध हो जाने के बाद इस लोक या ससार से कोई सीधा सम्बन्ध नही रहता है । इस हेतु ससार को रचने या चलाने वाला परमात्मा नही होता । ससार का सचालन तो जड-चेतन के सयोग से ही होता है जिसका मुख्य हेतु कर्म को माना गया है । कर्मवाद का विश्लेषण यह है कि जो आत्मा शुभ कार्य करती है वह पुन्य कर्म का बध करती है तथा अशुभ कार्य करने वाली आत्मा पाप कर्म का बंध करती है । पाप कर्म का फल दु:ख रूप होता है तो पुण्य कर्म का फल सुख रूप । किन्तु जो आत्मा अपनी सयम-साधना से दोनो प्रकार के कर्मबध की सवरमय निर्जरा करती है, वही मोक्ष की अधिकारिणी बनती है । यह आत्मवाद का सार है ।

भारतीय दर्शन में ऐसी सुन्दर एव उन्नायक विचारधारा होते हुए जो आज के भारतीय उसे समझने की चेष्टा किये बगैर छिछली भौतिकवादी धारणाओ का अनुगमन करने लगते हैं—यह शोभनीय नही है। आत्मवाद को भली प्रकार समझ लेने के बाद में ही स्वान्वेषण की निष्ठा जागृत होती हैं और जिज्ञासा तीव्र बनती है अपने आपको—अपनी आन्तरिकता को गूढता एवं स्पष्टता से जान और पहिचान लेने लेने की। जो स्वान्वेषी होकर आत्मदर्शी वन जाता है, वही स्वदर्शी होता है।

स्वान्वेषी विभ्रमित नहीं होता

स्वान्वेषण की विकासोन्मुख प्रक्रिया जो प्रारम्भ कर लेता है, वह फिर बाहर के भौतिक पदार्थों एव दृश्यो मे विभ्रमित नही बनता है। आत्मवादी इस तथ्य को जानता है कि अति-दुर्लभता से प्राप्त इस मानव तन एव जीवन को मात्र भौतिक पदार्थों की ही प्राप्ति के लिये नष्ट नही कर देना चाहिये। इस तन और जीवन का सदुपयोग स्वान्वेषण, स्वभाव प्राप्ति तथा समता साधना में रहा हुआ है। क्या आप बाहरी चीजों को पाकर या भोग कर ही इस अमूल्य जीवन को व्यतीत कर देना चाहते हैं? सोचिये कि एक तरफ आप जागरुक मानव के रूप मे है और दूसरी तरफ अज्ञानी पशु। दोनो में आहार, निद्रा, भय तथा मिथुन क्रियाओ की समानता तो है लेकिन पशु से मानव में क्या विशेषता है—उसे भी आप जानते हैं या नही? जो विशेषता है वह धर्म की है और इस एक शब्द धर्म में सम्पूर्ण आत्मवाद और तत्ववाद समाया हुआ है। यह भी जान लीजिये कि जिस मानव जीवन मे धर्म की यह विशेषता नही है, उसके और पशु के जीवन मे फिर कोई अन्तर नही है। क्या मानव होकर भी आप पशु बनना या बने रहना पसन्द करेंगे?

इस कारण मानव को अपने जीवन का सही उद्देश्य समझना चाहिये और अपनी विशेषता को विकसित बनानी चाहिये। जब तक मानव सही लक्ष्य का दृष्टिकोण नही बनायगा तब तक यो मानिये कि वह अज्ञान (पशुता) के प्रवाह में ही बहता रहेगा। पशु तो स्थूल शरीरधारी है, आप वनस्पति को लें, वह अपने मौलिक रूप मे कोई

परिवर्तन नहीं ला सकती है । सभी प्रकार के परिवर्तन लाने की क्षमता इसी मानव तन और जीवन में रही हुई है जो वर्तमान आत्मस्वरूप का रूपान्तरण करके उसे सिद्ध स्थिति तक पहुंचा सकता है ।

मूल बात है आत्मचेतना के जागरण की जो मानव जीवन में ही विवेक और साधना के सम्बल से बनती है । इसलिये मानव को स्वान्वेषण की दिशा में प्रवृत्त होना चाहिये तथा बाह्य पदार्थों के विकारों को समझकर आत्मकल्याण के पथ पर अपने कदम आगे बढाने चाहिये ।

अपनी संस्कृति की सुरक्षा करें

भारतीय सस्कृति के आदर्श सदा ऊंचे रहे हैं क्योंकि इसने अपने भीतर उन सभी सद्गुणों का समावेश किया है जो मानवता को प्रेरित करते हैं तथा मानव को अपने अन्त करण में झांककर आत्मिक पवित्रता की शिक्षा देते हैं । इस देश के निवासियो का खान-पान, रहन सहन आदि उसी सांस्कृतिक रूप में ढला है । क्योकि जीवन व्यवहार जब सस्कृति के अनुरूप होता है तभी उस संस्कृति की सुरक्षा की जा सकती है । जीवन व्यवहार में संस्कृति की झलक मिलनी चाहिये और सस्कृति की सुरक्षा से जीवन व्यवहार में समुन्नति दिखाई देनी चाहिये ।

किन्तु भारतीयों में पश्चिमी भौतिकवादी संस्कृति की नकल करने की जो दौड–धूप मची थी, वह अभी भी चल रही है-यह सस्कृति की सुरक्षा की भावना के अनुकूल नही है । आजकल सिनेमा में जो कुछ देखते हैं वैसी ही फैशन करने लग जाते हैं । पोशाक, साज-सज्जा और शृगार साधनो में रुचि बढती जाती है जिससे सादगी छूटती जाती है । क्या पोशाक आदमी को बडा बनाती है ? महात्मागाधी कितने बडे आदमी हो गये ? क्या अग्रेजी पोशाक पहिनने से हुए ? नही, उन्होने तो अग्रेजी पोशाक छोडकर ठेठ भारतीय बल्कि साधुओ की पोशाक धारण की थी । आज लोगो में पोशाक की, खान-पान की और रहन-सहन की ऐसी विकृतिया आ गई हैं जो लगता है कि अब क्षय योग की तीसरी स्टेज की तरह अपने चरम बिन्दु पर है । आप तो जानते हैं कि टी.बी की तीसरी स्टेज के बाद क्या होता है ? क्या इन सारी विकृतियो का भारी पोटला लेकर ही मृत्यु मुख मे चले जाना है या अब भी सावचेत बनकर उठ खड़ा होना है ?

सस्कृति की रक्षा से ही सिद्धात की रक्षा होती है और सिद्धात की सुरक्षा के आधार पर ही 'स्व' की सुरक्षा बनती है। 'स्व' की सुरक्षा मे पर की सुरक्षा तो पहले होती है—स्वान्वेषण की यही प्रक्रिया है ।

वीतराग देव की वाणी को श्रवण करने का स्वर्णिम अवसर आपको मिला है—प्रज्ञा से धर्म को समझने की कोशिश करे । ये धर्म की बारीक बाते आजकल शिक्षण सस्थानो में नही पढाई जाती, लेकिन मूल मे इन्ही की सही जानकारी से मनुष्य जीवन का सही निर्माण होता है । शिक्षा या विद्या वही कहलाती है जो मनुष्य को सबसे पहिले मनुष्यत्व सिखावे । मानव मूल्यो का ज्ञान और पारस्परिक व्यवहार पहली आवश्यकता है । इन्हे समझकर ही मानव आत्मविकास की उच्चतर श्रेणियो मे प्रवेश कर सकता है जो स्वान्वेषण की प्रक्रिया से प्रारम्भ होती है । अत आत्म लक्ष्य को निर्धारित कीजिये, अपने ज्ञान एवं आचरण को समुन्नत बनाइये तथा स्वान्वेषण के अभ्यास से सर्व-हितैषिता की दिशा में आगे बढिये ।

दि. २९-७-१९८६



सर्वहित की ओर

श्री श्रेयास जिन अन्तर्यामी..........

आज का प्रसग ध्यान–साधना सम्बन्धी चिन्तन का है। जहां साधक अपने जीवन मे साधना अपनाने की तीव्र उत्कठा वाला होता है, वहां अपने जीवन मे उसे स्थान देने के लिये अभ्यास की प्रक्रिया भी अपनाता है। वीर सघ की तरफ से प्रति वर्ष की तरह इस वर्ष भी शिविर का आयोजन इस नगरी में किया गया है। प्रात काल उस बारे मे मत्रीजी ने अपने विचार शिविर के अभिप्राय के रूप में व्यक्त किये हैं। उसी विषय को अभी संस्पर्शित किया जा रहा है।

साधना का समाधान

सर्वप्रथम विचारणीय यह है कि साधना का साधन व स्वरूप क्या हो ? साधना किसकी की जाय एवं साधना की भूमिका एवं प्रक्रिया कैसी हो ? साधना के इन प्रश्नो के सम्बन्ध में चिन्तक वर्ग का चिन्तन चलता रहता है। इस सदी में तो साधना और ध्यान की विविध प्रक्रियाओं के बारे मे सुनने को मिल रहा है जो विविध संस्थाओ आदि द्वारा चलाई जा रही है। कई जिज्ञासु व्यक्ति इस सम्बन्ध में

अपनी जिज्ञाए भी रखते हैं कि किस प्रकार हम अपनी आन्तरिकता में प्रवेश करे और वर्तमान जीवन के कटु तनावो से मुक्ति पाकर यत्किंचित् शाति का रसास्वादन करे ? यो साधना का स्वर मुखरित हो रहा है, किन्तु साधना के वास्तविक स्वरूप को समझकर ही आगे चलना चाहिये ।

मुख्य रूप से साधना मानव जीवन की होनी चाहिये । जीवन की समस्त क्रियाए एव प्रक्रियाएं सुव्यवस्थित होकर इस तरह सधे कि जीवन की गति सर्वहित की ओर बढे । मानवीय जीवन का साधना के साथ गहरा सम्बन्ध होता है । पशु एव अन्य शरीरधारी प्राणी इसे अपने जीवन में समुचित स्थान नही दे सकते है । मानव ही साधना के स्वरूप को समझकर उसकी उच्चतम श्रेणियो में विचरण कर सकता है । यह क्षमता मानव तन की अपनी ही क्षमता होती है । लेकिन अपनी इस क्षमता से बेभान रहकर जो इस तन का मात्र विषय भोगो मे दुरुपयोग करते है वे अज्ञ कहलाते हैं । सुविज्ञ पुरुष वे होते हैं जो अपने तन की अपूर्व क्षमता को महसूस करते हैं और साधना के बल पर उसे पूर्ण से उद्घाटित करने की दिशा में अग्रगामी बनते हैं ।

मानव शरीर की मौलिक अवस्था सारे विश्व मे एकसी है । इसी कारण सारे विश्व का प्रतिनिधित्व इस छोटे से पिंड रूप शरीर मे रहा हुआ है । आवश्यकता इस पुरुषार्थ की है कि इस पिंड को पीड तक ही सीमित न रखकर ब्रह्माण्ड तक विस्तारित कर दिया जाय और यह विस्तारण ध्यान-साधना के सम्बल से ही सम्भव हो सकता है । इस दृष्टि से यह समझा जा सकता है कि ध्यान-साधना अथवा धर्म साधना के साधन रूप में यह मानव तन ही सर्वश्रेष्ठ रहता है ।

दिनचर्या सुधारें वह साधना

इस विश्व मे अनादिकाल से साधना की प्रक्रियाए चल रही हैं । आप लोग भी पढते या सुनते रहते होगे कि अमुक स्थान पर प्रक्रिया चल रही है, अमुक साधक ने अमुक उपलब्धि प्राप्त करली अथवा अमुक की चमत्कारिक शक्ति से लोग आश्चर्यचकित रह गये । किन्तु शायद इस प्रश्न का उत्तर नही मिलता है कि क्या उन साधको

ने अपनी दिनचर्या का भी पूर्णतया सशोधन कर लिया है ? क्या वे चौवीसो घटे अपनी साधना के अनुरूप सधा हुआ जीवन विताते है ।

किसी भी प्रकार की साधना की पहली कसौटी यह है कि उस साधक की दिनचर्या समतामय भावो से भरीपूरी बनी है या नही ? वह किसी भी अन्य व्यक्ति के साथ व्यवहार करते हुए समभावी, सहनशील और सवेदनाशील हुआ है या नही ? उसके हृदय में कोमलता के करुण भाव संचालित हुए हैं या नही ? उसकी वाणी में मधुरता उभरी है या नही ? उसके प्रत्येक कार्य से सद्विवेक की झलक मिलती है या नही ? सक्षेप में जिस प्रकार वह साधना के समय अपने मन, वचन एव काया के योगो का निरोध करता है, वैसे निरोध का रूप उसकी दिनचर्या में समुच्चय रूप से दिखाई देता है या नही ? साधना की उपलब्धि यदि समस्त जीवन व्यवहार मे प्रतिविवित नही होती है तो उसका जीवन सधा हुआ नही माना जायगा और यदि जीवन सधा नही तो साधना कहा है ?

इन प्रश्नों का समाधान लेना हो तो अन्त करण को छूने वाले ज्ञान के प्रकाश मे साधना के स्वरूप को निरखना-परखना होगा और जाचना होगा कि इस शरीर पिड की वर्तमान क्रियाए सुव्यवस्थित और समरस बन पाई है या नही । वे क्रियाए समता के रग में रग गई है या नही । उस साधना के भी जिन-जिन तत्रो की जिन-जिन केन्द्रो में आवश्यकता है, उनके पर्याप्त विकास की ओर ध्यान देना होगा जैसे मानसतत्र, ज्ञानतत्र आदि सभी इसी शरीर में अवस्थित होते हैं, उनका सम्यक् रीति से उनके केन्द्रो (सेन्टर्स) को समझने हुए विकास करना होगा । यदि साधक इनका पर्याप्त विकास कर लेता है तो उसके कार्य चमत्कारो से भर जाते हैं जबकि दुनिया उन्हे चमत्कार मानती है लेकिन साधक स्वय उन्हे सामान्य रूप मे ही देखता है ।

साधना है योगों को सावना

इस ससार मे विभिन्न व्यक्तियो द्वारा जितने भी कार्य होते हुए देखे जाते हैं, उन सब का मूल मनुष्य के मन मे रहा हुआ होता है । कार्य सिद्धि के मनुष्य के पास तीन साधन होते हैं—मन, वचन एव काया । मन में सबसे पहले सकल्प-विकल्प चलते है—सोच-विचार होता

है कि क्या कुछ कैसे किया जाय ? चाहे कोई सासारिक कार्य हो, परोपकार का कार्य हो या आध्यात्मिक साधना की धार्मिक क्रिया-सब का उद्‌गम और चिन्तन पहले मन मे ही होता है। मन की अवधारणा तब मुह से वचन रूप में फूटती है। एक के मन की बात दूसरा सामान्य रूप मे वाणी के माध्यम से ही जानता है। तदनन्तर मन और वाणी के सयोग से काया का सचालन होता है याने कि कार्य-सिद्धि का प्रयास किया जाता है।

मन, वाणी और कर्म—ये ही है मानव तन और जीवन की मूल उपलब्धिया। इनके ही सहयोग से मानव इतनी प्रगति कर सका है और इन्ही को समुन्नत बनाकर ऊची से ऊची प्रगति वह साध सकता है। मन, वाणी और कर्म को समुन्नत करने का जो प्रश्न है, वस्तुत देखे तो वही साधना का मुख्य विषय है। साधना सिद्ध करने को कहते हैं और अपने मन, अपनी वाणी और अपने कर्म को सिद्ध करने के प्रयास का प्रारम्भ है, वही साधना का प्रारम्भ है तथा इन्हे जब पूर्णतया सिद्ध कर लिया तो साधना की पूर्णाहूति के रूप मे वही सिद्धि कहलायगी।

मन, वचन एव काया की क्रियाओ को दार्शनिक भाषा में योग व्यापार कहा गया है और इस योग व्यापार को अशुभता के क्षेत्र से खीच कर शुभता के क्षेत्र में सस्थापित करने का यत्न करना और सस्थापित करना ही साधना का समारभ और उसकी सम्पूर्ति मानी गई है। प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक समय मे इस योग व्यापार में सक्रिय रहता है—एक क्षण के लिये भी निष्क्रिय नही होता है। अच्छा सोच विचार हो या बुरा, अच्छा बोलना हो या बुरा और अच्छा काम करना हो या बुरा—कुछ न कुछ तो आदमी हर वक्त करता ही रहता है। विवेक की आवश्यकता इन क्रियाओ के सम्बन्ध मे इस कारण मानी जाती हैं कि मनुष्य अपनी क्रियाओ की गुणवत्ताको पहिचाने। वह बुरा सोच-विचार कर रहा है तो अच्छा सोच-विचार करना अपना कर्त्तव्य माने बुरा बोल रहा है तो अच्छा बोलने को गुणकारी और बुरा कार्य कर रहा है तो अच्छे कार्य को करना योग्य महसूस करे। एक व्यक्ति का विवेक इस रूप मे जागृत बने तो अधिकाधिक व्यक्तियो का विवेक भी इस रूप मे जागृत होवे। विवेक जागृत होगा तो वह उस दिशा मे व्यवहारिक प्रयत्न प्रारम्भ करना चाहेगा। इस चाह को व्यवस्थित

स्वरूप प्रदान करना ही साधना है। एक व्यक्ति की साधना जहां उसे अपने जीवन की क्रियाओ को सुव्यवस्थित बनाने की प्रेरणा देती है, वहा साधना का सामूहिक विकास सामाजिक प्रक्रियाओं को सर्व हितकारी स्वरूप प्रदान करता है। इसी प्रकार एक साधक जो अपनी साधना से उपलब्धिया प्राप्त करता है अर्थात् जिस रूप में अपने जीवन व्यवहार को साधता है, उसका सुप्रभाव अन्य व्यक्तियो पर भी निश्चित रूप मे पडता है। इस पारस्परिक सम्पर्क से दोनो ओर के योग व्यापार में नये सशोधन की धारा बहने लगती है।

जीवन व्यवहार के सशोधन का यह प्रवाह जब एक साधक के हृदय से प्रस्फुटित होकर समाज के विस्तृत क्षेत्र में प्रवाहित होने लगता है तो उस व्यापक प्रभाव के फलस्वरूप सारे समाज में एक नई क्राति का उदभव होता है जिसे सही शब्द में उत्क्राति कहना चाहिये। अतः साधना कोई व्यक्तिगत प्रयोग ही नही है, अपितु यह एक सामाजिक प्रयोग भी है जो व्यक्ति को सर्वहित की ओर मोडकर सर्वजन हिताय सर्व जन सुखाय समर्पित कर देता है। साधना का यह बाह्य रूप भी इतनी विलक्षणता से निखर उठता है किन्तु यह तभी सम्भव होता है जब साधना का आतरिक स्वरूप विशुद्धता की उच्चतर श्रेणियो मे रमण करने लगता है। आन्तरिकता की दिव्य सुगन्ध ही सम्पूर्ण बाह्य को सुवासित कर देती है।

समस्या यही है कि मन, वचन एवं काया का समूचा योग व्यापार समता की उस उत्कृष्ट कोटि मे पहुचे जहां व्यष्टि—समाविष्ट हो जाती है और सर्वहित समग्र साधना का सार बन जाता है। ऐसा ही तीर्थंकर देवो का दिव्य आत्म स्वरूप होता है। इसलिये मन, वचन एव काया के योग व्यापार की गति, विगति और प्रगति को समझना अनिवार्य है।

योग व्यापार मन, वचन काया का—

शास्त्रीय दृष्टि से योग की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम या क्षय होने पर मन, वचन, काया के निमित्त से आत्मप्रदेशो के चचल होने को योग कहा गया है। इस प्रकार उत्पन्न शक्ति विशेष से साभिप्राय आत्मा का पराक्रम जागता है। अभि-

प्राय सहित चलने वाले आत्मा के इस पराक्रम को योग-व्यापार कहते है ।

इस दृष्टि मे योग के तीन भेद बताये गये हैं –

१. मनोयोग—नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम स्वरूप आतरिक मनोलब्धि होने पर मनोवर्गणा के आलम्बन से मन के परिणाम की ओर झुके हुए आत्मप्रदेशो का जो व्यापार होता है, उसे मनोयोग कहते हैं ।

मन के द्वारा विचार करने की जो अवस्था है, वह एक शक्ति विशेष है जो सभी आत्माओ को प्राप्त नही होती हैं । सभी मनुष्यो का मन भी समान शक्तिधारी नही होता है । किसी मे विचार शक्ति अधिक प्रखर होती है तो किसी में मन्द । यह शक्ति मतिज्ञान पर पडे कर्मो के आवरण के हटने के अनुसार न्यूनाधिक रूप में प्राप्त होती है। कर्मों का आवरण हटाने के लिये आत्मा को तदनुकूल पराक्रम करना होता है जिसके फलस्वरूप ही आवरण का घनत्व घटता है । जितने अ शो में यह आवरण पतला होता है, उतने अ शो मे ही मन की विचार शक्ति का प्रकटीकरण होता है । उस प्राप्त विचार शक्ति के अनुसार जो विचारो और भावो का प्रवाह चलता है, वही मनोयोग का व्यापार कहलाता है ।

२ वचन योग—मतिज्ञानावरण, अक्षर श्रुत ज्ञानावरण आदि कर्म के क्षयोपशम से आतरिक वाग् उपलब्धि होने पर वचन वर्गणा के आलम्बन से भाषा परिणाम की ओर अभिमुख आत्मप्रदेशो का जो व्यापार होता है उसे वचनयोग कहते है ।

मनोयोग की तरह ही वचन योग भी एक शक्ति विशेष है जो सम्बन्धित कर्मों के क्षयोपशम से प्राप्त होती है । वचन का अभाव अथवा वचन शक्ति का न्यूनाधिक प्रभाव उसी क्षयोपशम का परिणाम होता है ।

३ कायोग—औदारिक आदि शरीर वर्गणा के पुद्गलो के आलम्बन से होने वाले आत्मप्रदेशो के व्यापार को कामयोग कहते हैं।

मन, वचन और काया की शक्ति का सयोग मिलने पर मन, वाणी एवं कर्म का समुद्भव होता है। विचार से लेकर कार्य सिद्धि तक तीनों शक्तियों का योग व्यापार क्रियाशील रहता है। शक्ति की प्राप्ति एक बात है किन्तु उस शक्ति का उपयोग दूसरी ही बात। उपयोग की दृष्टि से सदुपयोग भी हो सकता है और दुरूपयोग भी या प्रत्यक्ष निरूपयोग भी, क्योकि ये प्राप्त शक्तिया निष्क्रिय नही रहती, परोक्ष रूप से ही सही सदा सक्रिय बनी रहती हैं। इस कारण मुख्य प्रश्न सद् या असद् उपयोग का ही रहता है।

मन, वचन एव काया की शुभाशुभ प्रवृत्तियां चलती रहती हैं। श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय। इन पांच इन्द्रियो को वश में न रखकर शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श विषयो में इन्हे स्वतन्त्र रखने से इनका दुरुपयोग होता है तथा उससे पांच आश्रव होते हैं व कर्मबंध होता है।

योग या प्रयोग गति की दिशायें।

मन, वचन, काया की वर्गणाओ के पुद्गलो का आलम्बन लेकर आत्मप्रदेशो में होने वाले परिस्पन्द, कम्पन या हलन-चलन को योग कहा है। इस आलम्बन के जो मुख्य माध्यम हैं, वे तो मन, वचन व काया के रूप में तीन हैं, किन्तु योग अथवा प्रयोग की सूक्ष्म गति पर ध्यान केन्द्रित किया जायगा तो इन तीनों माध्यमो के उपभेदो की दिशाए भी स्पष्ट हो सकेंगी। इस दृष्टि मन के चार, वचन के चार तथा काया के सात-कुल पन्द्रह उपभेद बताये गये हैं जो निम्नानुसार है।

१ सत्य मनोयोग—मन का जो व्यापार सत् अर्थात् सज्जन पुरुष या साधुओ के लिये हितकारी हो, उन्हे मोक्ष की ओर ले जाने वाला हो, उसे सत्य मनोयोग कहते हैं। इस योग के माध्यम से जीव अजीव आदि पदार्थों के अनेकान्त रूप यथार्थ विचार का सफलतापूर्वक चिन्तन किया जा सकता है।

२. असत्य मनोयोग—सत्य से विपरीत याने मोक्ष के विरोध मे ससार की ओर ले जाने वाले मन के व्यापार को असत्य मनोयोग

कहा गया है । असत्य मनोयोग के कुप्रभाव से ऐसे एकान्त रूप मिथ्या विचार चलते हैं कि जीवादि पदार्थ नही है या एकात सत् है आदि ।

३. सत्य मृषा मनोयोग—व्यवहार नय से ठीक होने पर भी निश्चय नय से जो विचारपूर्ण सत्य न हो–उनका चिन्तन करना सत्य मृषा मनोयोग है । जैसे किसी उपवन मे धव, खैर, पलाश आदि के कुछ वृक्ष होने पर भी अशोक वृक्षो की अधिकता से उसे अशोक वन कहना । वन मे अशोक वृक्षो के होने से यह विचार सत्य है और धव, खैर आदि के वृक्ष होने से असत्य भी है ।

४. असत्यामृषा मनोयोग—जो विचार सत्य नही है और असत्य भी नही है उसे असत्यामृषा मनोयोग कहते हैं । किसी प्रकार का विवाद खडा होने पर वीतराग देवो के बताये हुए सिद्धात के अनुसार विचार करने वाला आराधक कहा जाता है—उसका विचार सत्य है । जो व्यक्ति वीतराग–सर्वज्ञ के सिद्धात से विपरीत विचरता है, जीवादि पदार्थों को एकात नित्य आदि बताता है–वह विरोधक है और उसका विचार असत्य है । जहा वस्तु को सत्य या असत्य किसी प्रकार सिद्ध करने की इच्छा न हो—केवल वस्तु का स्वरूप मात्र दिखाया जाय– उस चिन्तन मे सत्य या असत्य कुछ नही होता, जैसे देवदत्त, घडा लाओ । आराधक–विराधक की कल्पना भी वहा नही होती है । इस प्रकार के विचार को असत्यामृषा मनोयोग कहते है । यह भी व्यवहार नय की अपेक्षा है । निश्चय नय से तो इसका सत्य या असत्य मे समावेश हो जाता है ।

उपरोक्त मनोयोग के अनुसार ही वचन योग के भी चार भेद बताये गये हैं—१. सत्य वचन योग, २ असत्य वचन योग, ३. सत्य मृषा वचन योग तथा ४ असत्यामृषा वचन योग ।

काम योग के सात भेद इस प्रकार हैं—

१. औदारिक शरीर काययोग—काय का अर्थ होता है समूह । औदारिक शरीर पुद्गल स्कन्धो का समूह है इसलिये काय है । इसमें होने वाले व्यापार को औदारिक शरीर काय योग कहते हैं । यह योग पर्याप्त तिर्यंच और मनुष्यो के ही होता है ।

२. औदारिक मिश्र शरीर काय योग—वैक्रिय, आहारक और कार्मण के साथ मिले हुए औदारिक को औदारिक मिश्र कहते हैं। औदारिक मिश्र का व्यापार तदनुसार काय योग है।

३. वैक्रिय शरीर काय योग—वैक्रिय शरीर पर्याप्ति के कारण पर्याप्त जीवों के होने वाला वैक्रिय शरीर का व्यापार वैक्रिय काय योग है।

४. वैक्रिय मिश्र शरीर काय योग—देव और नारकीय जीवो की अपर्याप्त अवस्था मे होने वाला काय योग वैक्रिय मिश्र शरीर काय योग है। यहां वैक्रिय और कार्मण की अपेक्षा मिश्र योग होता है।

५. आहारक शरीर काय योग—आहारक शरीर पर्याप्ति के द्वारा पर्याप्त जीवो को आहारक शरीर काय योग होता है।

६. आहारक मिश्र शरीर काय योग—जिस समय आहारक शरीर अपना कार्य करके वापिस आकर औदारिक शरीर मे प्रवेश करता है उस समय आहारक मिश्र शरीर काय योग होता है।

७. तैजस कार्मण शरीर योग—विग्रह गति मे तथा सयोगी केवली को समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाचवे समय मे तैजस, कार्मण शरीर योग होता है। तैजस और कार्मण सदा एक साथ रहते हैं, इसलिये उनके व्यापार रूप काय योग को भी एक ही माना है।

योग-व्यापार का सत्प्रवाह

योग व्यापार के दृष्टिकोण से विराट् विश्व की तरह इस पिंड मे भी सभी तरह के दृश्य रहे हुए है। योग रूप मन, वचन और काया की शक्तिया इनके पास है तथा इनका प्रवाह प्रत्येक समय में प्रवाहित रहता है। मानव के पुरुषार्थ का मूल यही है कि इस प्रवाह को सत्प्रवाह बना दिया जाय। यह योग व्यापार के सदुपयोग का ही प्रश्न है।

इस योग व्यापार का सत्य रूप से सदुपयोग हो और एक सुव्यवस्था का क्रम बन जाय—इसका अभ्यास ही साधना है। व्यक्ति अपनी आतरिक शक्तियो को योग व्यापार के व्यवस्थित उपयोग से

उद्घाटित कर सकता है–इसी पद्धति का नाम योग साधना पद्धति है। इस मार्ग को पूर्व में महापुरुषो ने स्वय को व्यवस्थित बनाकर इन योगो के सत्प्रवाह से प्राप्त होने वाली आत्मिक शक्तियो को उद्घाटन किया है और वही मार्ग हम सबके लिये भी खुला हुआ है।

इस साधना का मुख्य अंग है ध्यान, क्योकि ध्यान ही मूल में होता है जिसके आधार पर सारा योग व्यापार चलता है। योग–व्यापार की क्रियाशीलता को सत्प्रवाह में बदलने के लिये ध्यान के माध्यम से निरोध की क्रिया करनी होती है याने कि मन, वचन, काया के योग अशुभ दिशा की ओर से निरुद्ध होकर शुभ दिशा मे प्रवृत्त हो। ध्यान साधना के माध्यम से यह प्रक्रिया सफलतापूर्वक सचालित की जा सकती है। अत ध्यान पद्धति का विशिष्ट महत्त्व माना गया है। इस ध्यान पद्धति का प्रारम्भ सामयिक साधना से किया जाना चाहिए। सामायिक समभाव की साधना होती है और यही समता वृत्ति अभ्यासपूर्वक जब अपने योग व्यापार मे समा जाती है तब ध्यान की उच्चता भी प्राप्त होती है तो योग व्यापार की विशुद्धता भी स्थायी वन जाती है। इससे समग्र जीवन में समरसता, समभावना एव सद–भावना को स्थान मिल जाता है। सर्वहित की ओर अग्रगामी बनने का यही मार्ग है कि योग व्यापार का सत्प्रवाह स्वय को और सबको समरसता में भिगोता हुआ वहता चले।

दि. ३०-७-८६



वृत्ति–संशोध

श्री श्रेयास जिन अन्तर्यामी........

आज का प्रसग भी साधना की कडी के साथ जुडा हुआ है। शिविर सम्बन्धी जो साधना का कार्यक्रम चल रहा है, उसका आज तृतीय दिवस है। देखना है कि उसमे हमारी आत्मा ने कितनी गहराई तक प्रवेश किया है। समय अपनी गति से अबाध रूप चल रहा है। यह हमें देखना है कि हम भी अपने साधना क्षेत्र में अबाध गति से गमन कर रहे हैं या नही। गगा का जल अपनी स्वाभाविक गति से बहता है तो हम भी अपनी स्वाभाविक गति को ग्रहण कर पाये हैं या नही। यह सब आत्मावलोकन का विषय है।

चैतन्य देव का भी प्रधान लक्ष्य होना चाहिये कि वह अपने स्वभाव को प्राप्त करले। यह लक्ष्य इस कारण कठिनाई से साधा जा सकने वाला बना हुआ है कि स्वभाव के ऊपर विभाव की गहरी परतें जमी हुई हैं। इसीलिये आज का मानव अपने मूल स्वरूप से विस्मृत बना हुआ है। यतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट की स्थिति बन गई है।

भटकाव का लम्बा अन्तराल

यह आत्मा अनादिकाल से इतनी भटकी है कि उसे पीछे मुड कर अपने स्वरूप का लेखा–जोखा लेने का भी भान नही रहा है।

उसमें इतनी असावधानी आ गई है कि षट् द्रव्यों में वह अपने स्थान को भी भूल गई है। यह आत्मा इस सृष्टि का प्रमुख स्वरूप होते हुए भी अपनी प्रमुखता को विसार गई है। पशु विवेक विकल है तथा देवों में भौतिकता का प्राचुर्य है। नारकी जीव दुःखों की भट्टी में सतप्प हैं। यह मनुष्य तन ही ऐसा है जिसमें निवास करती हुई यह आत्मा विभाव की परतो को हटाकर अपनी स्वरूप स्मृति कर सकती है तथा स्मृति ही क्या, अपने स्वरूप को दर्शन करती हुई स्वरूप सिद्धि भी कर सकती है। जन्म-मरण के चक्र में भटकाव के लम्बे अन्तराल का समापन भी यह आत्मा मानव तन की सहायता से अपनी साधना की उच्चता के बल पर कर सकती है। भटकाव के बाद आत्म जागृति का यही श्रेष्ठ अवसर है।

इस मानव-जन्म में आत्मा को अपने स्वभाव का वस्तुतः अवलोकन करना चाहिये कि इंद्रियजनित सुखों मे रमण करना क्या मेरा स्वभाव है ? यदि यह स्वभाव नही, विभाव है तो फिर स्वभाव कैसा है ? अपने स्वभाव की परख पहिचान तभी हो सकती है, जब मन, वचन व काया के योग व्यापार का विश्लेषण किया जाय, उसकी शुभाशुभता का विज्ञान लिया जाय तथा योग साधना के महत्त्व को भी भली प्रकार समझा जाय। योग साधना की पद्धति में कई उल्लेखनीय बातें हैं। वास्तव में योग साधना का मुख्य उद्देश्य शरीर को हृष्ट-पुष्ट करना नही है—मन और वचन को भी पांच इन्द्रियों के विषयों में लगाना नहीं है। इसका केन्द्रित लक्ष्य है कि मन, वचन व काया के योगों को सुव्यवस्थित स्वरूप देना। योग सम्बन्धी हमारी जो अनिर्वचनीय शक्ति है, उस अनन्त शक्ति के केन्द्र को योगो के माध्यम से साधना। इसी साधना को उन्नतर स्वरूप देते हुए हम उस योग साधना तक पहुच जाय, जिसका शास्त्रों मे गूढ वर्णन है।

योग साधना है वृत्ति-संशोध

प्रचलित योग विद्याओ में योग को जिस रूप मे परिभाषित किया गया है, उसमें पातंजलि योग मे परिभाषा दी गई है कि योगाश्चित् वृत्ति निरोध. अर्थात् चित्त की वृत्तियो का निरोध करना। यह परिभाषा पूर्ण नही है क्योंकि चित्त की वृत्तियो का निरोध न तो

सम्भव है और न आवश्यक। वृत्तियों की क्रियाशीलता निरन्तर बनी रहती है-उन्हे रोकने का न सामर्थ्य है न अर्थ। क्योंकि यह क्रियाशीलता ही तो जीवन है। अत श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य की योग की परिभाषा गहराई से विचारने-योग्य है, जिन्होंने कहा है कि क्लिष्ट वृत्तिनिरोध' अर्थात् कलुषित वृत्तियों का निरोध किया जाय। चित्त की उन वृत्तियो को रोके जिनका रूप कलुष से भरा हुआ है—जो अशुभ हैं। क्लिष्ट वृत्ति निरोध रूप योग साधना से वृत्तियों का स्वरूप बदलना होगा—उन्हें कलुषितता से मुक्त बनाकर उज्ज्वलता का रूप देना होगा। अतः योग साधना को वृत्ति निरोध न कह कर वृत्ति संशोध कहना समुचित रहेगा।

चित्त का आस्तित्व चेतना का लक्षण होता है, जड का नही। क्या इस पारे में चित्तवृत्ति है ? चित्त ही नही तो चित्तवृत्ति कैसी ? जिसमें चैतन्य शक्ति है, उसी में चित्तवृत्ति होती है और चित्तवृत्तियों का भी रूप बदलता रहता है-कभी वे शुभ भावों के साथ उज्ज्वल होती हैं—कभी विषय भोगों के रंग में रंगकर विकृत बनती है तो कभी असावधानी की निद्रा में गिरकर श्लथ और शिथिल हो जाती हैं। वृत्तियो की असावधानी कैसी होती है ? अभी मैं जागृति की बात कर रहा हूं—योग साधना का महत्त्व समझा रहा हूं और आप में से किन्ही को नीद सता रही है। क्या यह चित्तवृत्तियो की असावधानी नही है? अपने स्वरूप से भिन्न स्वरूप में कार्य करना यह असावधानी है तो भिन्न स्वरूप में बेभानी से रमण करना- यह विकृति है। कोई सोया हुआ है या जाग रहा है—अपनी चित्तवृत्तियो से ही इसकी जानकारी मिल सकती है। ऊपर की दृष्टि से कोई जागा हुआ भले ही दिखाई दे, लेकिन चित्तवृत्तियो की दृष्टि मे अगर वह असावधानी और विकारो में पड़ा हुआ है तो उसे सोया हुआ ही कहा जायगा।

शास्त्रो में कहा गया है—सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरन्ति अर्थात् जो सोया हुआ है वह मुनि नही है क्योकि मुनि तो सदा जागृत रहता है। चित्तवृत्तियो की यदि सतत जागृति है तो ऊपर की दृष्टि से सोया हुआ साधक भी भव दृष्टि से जागृत ही कहलाता है। ऊपर का यह वेश तो मुनि की ऊपरी पहिचान है किन्तु वास्तव मे मुनि सोया

हुआ भी जागता है। समझने की बात है कि मुनि किसको कहा गया है ? अमुनि तो सदा सोया हुआ रहता है लेकिन मुनि साहजिक योग की साधना के साथ सदा जागता रहता है। जो प्रत्येक क्षण में जागृत है, वही मुनि है।

ऐसी जागृति कैसे प्राप्त हो सकती है ? क्या ऐसी जागृति सबको अभीष्ट है ? यह जागृति योग साधना की उपलब्धि होती है-वैसी योग साधना जो चित्तवृत्तियो का क्रमिक अभ्यास के साथ दिशा-परिवर्तन करती है, उनके विकारो का शोध न करती है और उन्हे शुभता में-श्रेष्ठ अध्यवसायो में सचारित बनाती है। इसलिये विचार किया जाय कि वह साधना कौनसी है जो वृत्ति सशोध को सफल बनाती है ?

सामायिक की साधना

सामान्यतया विभिन्न मतमतान्तरो मे जिस प्रकार की योग पद्धतियो को माना जाता हैं, उनका अभ्यास न आसान होता है और न उद्देश्यपूर्ण। ऐसी कई घटनाए सुनने में आती है जब ऐसा अभ्यास करते हुए दिमाग की नसें फट गई या अभ्यास करने वाला पागल ही हो गया। दूसरे शरीर पर ही दबाव देने वाली ये योग पद्धतियां वृत्ति सशोध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नही हैं। अत ऊंची मे ऊची योग साधना का आरम्भ अगर सामायिक की साधना मे किया जाता है तो विलक्षण रूप से वृत्ति सशोध होते हुए आत्मविकास की अनुपम ऊचाइया प्राप्त की जा सकती है।

इस कारण यह समझें कि सामायिक की साधना है क्या ? सामायिक है दो घडी (४८ मिनट) तक सावद्य (हिंसा पूर्ण) क्रिया से विलग रहकर समभाव का अभ्यास। यह समभाव ही ससार में सुव्यवस्थित जीवन जीने तथा सासारिकता से मुक्त हो जाने का मूलमन्त्र है। समभाव है आत्मीय समानता का भाव-जो विचारो से लेकर समस्त कार्यों में क्रियान्वित होकर जीवन को समरसता के आनन्द का रसास्वादन कराने वाला होता है। सामायिक एक प्रकार से सर्वोच्च साधना का साहजिक रूप है। यह एक प्रकार से महान् उपलब्धि का प्रशिक्षण

और अभ्यास भी है । दो घडी की यही सामायिक अपनी समभावना के साथ परिपुष्ट बनती हुई चौबीसों घंटों की या सारे जीवन की सामायिक बन जाती है । आप लोग दो घडी की सामायिक करते हैं और हम साधुओं के सारे जीवन की सामायिक होती है । यह साधु जीवन वास्तविक रूप में जब जीवन पर्यन्त के इस साहजिक योग से जुड जाता है और उसमें साधना की जो क्रियाएं चलती हैं, उनसे ऐसा अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है जो वर्णनातीत होकर अनुभव जन्म ही रहता है । इसमें समरसता, समभावना और सहनशीलता के वातावरण में आत्मिक समानता की अद्भुत अनुभूतियां उत्पन्न होती हैं ।

सामायिक की साधना तीनों प्रकार के योगों को सशोधित करने के उद्देश्य से की जानी चाहिये । काया से जो प्रवृत्तियां होती हैं उनका मूल वाणी और चित्त की वृत्तियों में होता है । चूंकि चित्त निरन्तर गतिशील रहता है, मन, वचन व काया का समस्त योग व्यापार भी निरन्तर चलता रहता है । इस गतिशीलता को रोका नही जा सकता है इसी करण योग पद्धतियो का उद्देश्य चित्तवृत्तियो का सशोधन बताया गया है ताकि गतिशीलता पतन की राह पर न हो–उन्नयन के पथ पर हो । वृत्ति संशोध को इस रूपक से समझिये । किसी की आखो पर कोई रगीन चश्मा लगा हुआ है तो सारे पदार्थ कमरा, दीवारें आदि रगीन न होते हुए भी चश्मे के रंग के अनुसार रगीन दिखाई देंगे । उस चश्मे की जगह अगर प्लेन काच का चश्मा लगा हुआ है तो सभी पदार्थों का रंग यथावत् दिखाई देगा । इसी प्रकार जब चित्त की वृत्तियां भिन्न-भिन्न इन्द्रियो के भिन्न-२ विषय–भोगों में रमण करती है, उस समय में उस चित्त की दृष्टि भी उस विकार के अनुसार दोष पूर्ण बन जाती है और उस रूप में देखने के कारण वस्तुओं और तत्त्वो का वास्तविक स्वरूप उसे दिखाई नही पडता है । अत. सामायिक की साधना याने कि समभावना के अभ्यास से उस दृष्टिकोण को दूर करना तथा वस्तुओ व तत्त्वो को यथावत् स्वरूप में देखना आत्मविकास का सही धरातल तैयार करना है । वृत्ति सशोध से ही यथार्थ जीवन का निर्माण किया जा सकेगा ।

सामायिक की सफलता की सच्ची कसौटी है समभाव की व्याप्तता । चित्त वृत्तियो से लेकर समस्त वाणी एव प्रवृत्तियो में सम-

भाव प्रसारित हुआ है या नही और उसके बाद समभाव स्थायी रूप से टिकता है या नही—यह देखने और जाचते रहने की बात होती है।

समभाव की व्याप्तता

समभाव बनता है स्वच्छ भाव से। जब वृत्तियो एव प्रवृत्तियो के विकारो से दृष्टि दोषपूर्ण बनी हुई होती है, तब उन विकारो को धोने से ही दृष्टि मे स्वच्छता आती है जैसे कि प्लेन काच वाले चश्मे पर भी अगर बारीक-२ मिट्टी के कण जम जाते है तो वे भी साफ नजर को रोक देते हैं-फिर उन काचो को धोना पड़ता है। धोने से नजर साफ हो जाती है। इस कारण सामायिक की साधना पहले चित्त वृत्तियो के विकारो को धोकर साफ करती है और उसके बाद वृत्ति-सशोध का क्रम बनता है जिससे दृष्टि स्वच्छ होकर समभाव की ओर मुड़ती है। यह समभाव ही समदृष्टि का निर्माण करता है जिसके प्रभाव से सम्पूर्ण जीवन की क्रिया-प्रक्रियाए समरस बनती है।

समभाव और समदृष्टि का जो स्वरूप है, वही आध्यात्मिकता का स्वरूप है, अत इस समभाव का प्रधान शत्रु है विषम भाव। यह विषमभाव भौतिकता की उपज होता है। आप देखते हैं कि एक सम्पन्न व्यक्ति होता है, उसकी दृष्टि में अपनी उस भौतिक सम्पन्नता के कारण अभिमान समा जाता है तब उस अभिमान के कुप्रभाव से वह दूसरो को हीन दृष्टि से देखने लगता है। वह समझता है कि मैं बड़ा हू तथा दूसरे छोटे व ओछे हैं। एक निष्पक्ष व्यक्ति उसे देखकर यही कहेगा कि दूसरो को हीन दृष्टि से देखने वाला और हीन समझने वाला वास्तव मे स्वय हीन है। क्योकि उसकी आखो पर अभिमान का जो चश्मा चढा हुआ है' उस चश्मे ने उसकी दृष्टि को दोषपूर्ण बना दी है। इस कारण जिस दृष्टि से उसे सभी को अपने समान समझना चाहिये, उन्हे ही वह अपनी उस दोषपूर्ण दृष्टि के कारण हीन समझ रहा है। जैसे यह अभिमान के विकार की बात है, वैसे ही क्रोध आदि अन्य सभी विकारो भरी चित्तवृत्तियो से मनुष्य की दृष्टि दोषपूर्ण बन जाती है। तव वह उन्ही दोषो की प्रतिच्छाया दूसरो में देखने लगता है। यही विषम भाव की जड़ है जो भौतिकता से उपजती है और

चित्तवृत्तियो एव प्रवृत्तियो को कलुषित बनाती हुई फैलती जाती है और सारे जीवन को दूषित एव कलंकित बना देती है।

सामायिक की साधना से इसी विषम भाव को मिटाना होता है तथा भौतिकता को गौण करते हुए आन्तरिकता में झाक कर आत्मीय समता के रूप मे समभाव को जागृत करना और उसे स्थायी बनाना होता है। यही वृत्ति सशोध की साधना है। इस साधना के सुफल-स्वरूप मन वचन, काया के समस्त योग व्यापार में समभाव व्याप्त हो जाता है। यह समभाव ही दृष्टि और प्रवृत्ति मे समाविष्ट होता हुआ जीवन के धरातल को अग्रगामी योग साधनाओ के लिये सम्पुष्ट बना देता है।

वृत्ति सशोध की दार्शनिकता

वृत्ति सशोध की कारण रूप सामायिक साधना का दार्शनिक स्वरूप भी समझ लिया जाना चाहिये। सर्व प्रकार के सावद्य (हिंसा पूर्ण) योग-व्यापार का त्याग करना तथा निरवद्य (अहिंसामय) योग व्यापार मे प्रवृत्ति करना सामायिक है। सामायिक का मूल अ श है सम, अर्थात् रागद्वेष रहित पुरुष की प्रतिक्षण कर्म निर्जरा से होने वाली अपूर्व शुद्धि का नाम ही सामायिक है क्योकि समता की प्राप्ति के लिये रागद्वेष से रहित होना अनिवार्य है। यही समता विभूषित होती है ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति से-इस कारण यह प्राप्ति ही सामायिक की उपलब्धि होती है।

वृत्ति सशोध से विषमता मिटती है और समता प्रवेश करती है जिसकी माध्यम है सामायिक की साधना। इस दृष्टि से सम का अर्थ है जो व्यक्ति रागद्वेष से रहित होकर सभी प्राणियो को आत्मवत् समझता है—ऐसी आत्मा को सम्यक् ज्ञान,दर्शन एव चारित्र की प्राप्ति होना सामायिक है। यह रत्नत्रय ही मोक्ष के साधन है अत सामायिक का श्री गणेश अन्तत. साधना को मुक्तियोग्य बना देता है।

सामायिक की इस क्रमिक उच्चता को दर्शाने वाले उसके चार भेद माने गये हैं—

१ सम्यक्त्व सामायिक—देव, नारकी की तरह निसर्ग अर्थात् स्वभाव से होने वाला एव अधिगम अर्थात् तीर्थंकर आदि के समीप धर्मश्रवण से होने वाला तत्त्व श्रद्धान सम्यक्त्व सामायिक कहा जाता है।

२. श्रुत सामायिक—गुरू के समीप में सूत्र, अर्थ या इन दोनों का विनयादि पूर्वक अध्ययन करना श्रुत सामायिक हैं।

३. देशविरति सामायिक—श्रावक का अणुव्रत आदि रूप एक देश विषयक चारित्र देश विरति सामायिक हैं।

४. सर्वविरति सामायिक—साधु का पच महाव्रत रूप सर्वविरति चारित्र सर्वविरति सामायिक है।

यो सामायिक एक व्रत के रूप में श्रावक के चार शिक्षा व्रतो मे गिनाई गई है। इस व्रत के अनुसार श्रावक को अपनी सामायिक की साधना मे सम्पूर्ण सावद्य योग व्यापार का त्याग करके आर्त्तध्यान व रौद्र ध्यान रूपी दुष्ट मनोयोग को दूर करना होता हे। तब अपनी आत्मा को उसे धर्मध्यान में लगाना तथा मनोवृत्ति को समभाव में रखना होता है। एक सामायिक का काल दो घडी या एक मुहूर्त याने ४८ मिनिट का माना गया है। इसमें ३२ दोषो को वर्जना चाहिये।

सामायिक के ये ३२ दोष मन, वचन एव काया के योगो से सम्बन्धित होते हैं। मन सम्बन्धी १० दोष होते हैं। मन के जिन सकल्प विकल्पो से सामायिक दूषित हो जाती है, वे मन के दोष इस प्रकार है—१. अविवेक-सामायिक साधना के सम्बन्ध मे विवेक न रखना कार्य की उचितता या अनुचितता तथा समय-असमय का ध्यान न रखना अविवेक है। २. यश कीर्ति-सामायिक करने से मुझे यश, प्रतिष्ठा या सम्मान मिलेगा ऐसा विचार करना दोषपूर्ण है। ३. लाभार्थ-धन आदि के लाभ की इच्छा से सामायिक करना या कि सामायिक करने से व्यापार आदि लाभ होगा-ऐसा सोचना दोष है। ४. गर्व-सामायिक के सम्बन्ध मे यह अभिमान करना भी दोषपूर्ण है कि मैं बहुत सामायिक करता हू या कि बड़ी शुद्ध सामायिक करता हूं। ५. भय-किसी भी

प्रकार के राज्य, पच, लेनदार आदि के भय के कारण सामायिक लेकर बैठ जाना भी दोषपूर्ण है। ६. निदान-सामायिक का कोई भौतिक फल चाहना निदान नाम का दोष है। ७ सशय-सामायिक के सुफल (आत्मिक विकास) के बारे मे सन्देह रखना भी दोष है। ८. रोष-राग-द्वेष आदि के कारण सामायिक मे क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय का सेवन दोषपूर्ण है। ९. अविनय-सामायिक के प्रति विनयभाव न रखना और देव गुरु धर्म की असातना करना अविनय दोष है। १०. अवहुमान-विना आदर भाव के किसी के दबाव आदि से वेगारी की तरह सामायिक करना भी दोषपूर्ण है।

वचन के भी उसकी सावद्यता एव दूषितता के कारण १०दोष माने गये हैं जिन्हे सामायिक की साधना मे टाला जाना चाहिये—१ कुवचन-कुत्सित वचन बोलना। २ सहसाकार-बिना विचारे सहसा अप्रीतिकार व अप्रतीकार बोलना। ३ स्वच्छण्द-स्वछन्द याने राग-द्वेष बढाने-वाला धर्मविरुद्ध बोलना। ४. सक्षेप-सामायिक के पाठ को थोडा करके बोलना। ५. कलह-विद्वेष विग्रह पैदा करने वाले वचन बोलना। ६ विकथा-धर्म विरुद्ध स्त्री कथा आदि करना। ७ हास्य-हसना, व्यग या कोतूहल करना। ८. अशुद्ध-अशुद्ध बोलना। ९. निर-पेक्ष-असावधानी या विना उपयोग के बोलना तथा १०. मुणमुण-अस्पष्ट उच्चारण से बोलना।

सामायिक मे निषिद्ध आसन से बैठना काया का दोष है जो बारह है-१. कुआसन-पाव पर पाव चढाकर बैठना। २. चलासन-बार-बार आसन बदलना। ३ चल द्रष्टि-विना प्रयोजन इधर-उधर देखना। ४ सावद्य क्रिया-इशाए करना किसी काम का या घर की रखवाली रखना। ५. आलम्बन-टेका लेकर बैठना। ६. आकुचन-प्रसारण हाथ पांव फैलाना समेटना। ७ आलस्य-अंगो को मोड़ना। ८. मोडण-अगुलिया चटकाना। ९ मल दोष-शरीर का मैल उतारना। १० विमासन-गाल पर हाथ लगाकर बैठना, विना पूजे खुजलाना हलन-चलन करना आदि। ११. निद्रा-नीद लेना तथा १२. वैयावृत्य या कपन निष्कारण दूसरे से वैयावृत्य कराना या शरीर कपाना।

सामायिक व्रत के पाच अतिचार इस प्रकार हैं—१. मनो-दुष्प्रणिधान-मन का दुष्ट प्रयोग २. वाग्दुष्प्रणिधान-वचन का दुष्ट

प्रयोग । ३. काय दुष्प्रणिधान-काया का दुष्ट प्रयोग । ४. सामायिक का स्मृत्यकरण-सामायिक की स्मृति या उपयोग नही रखना । ५. अनवास्थित सामायिककरण-अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना । पहले के तीन अतिचार उपयोगहीनता से और बाद के दो प्रमाद बहुलता से होते हैं ।

अन्तरावलोकन व चितन

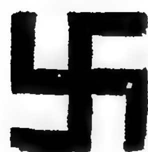
सामायिक की साधना करनी है याने की आध्यात्मिक जीवन के नियमो को पालना है और मूलत चित्तवृत्तियों का सशोधन करना है । इसके लिये अन्तर्विज्ञान की खोज करनी होगी और अन्तर्दर्शन करना होगा । भीतर में देखें और चिन्तन करें कि पाप प्रवृत्तियो में जाते हुए शरीर रुका है या नही और सबसे बढकर मन रुका है या नही । निरोध की इस प्रक्रिया के साथ ही सशोधन की प्रक्रिया चलनी चाहिये । यह भी अन्तरावलोकन तथा चिन्तन से ही सम्भव हो सकेगा । पूरे योग व्यापार की जाच करते हुए देखना होगा कि मन की चचलता कितनी घटी है और कम घटी है तो क्यो ? कारणो को खोजना होगा, बाहर के वातावरण पर भी नजर डालनी होगी तथा बाहर के प्रलोभनो को सयत बनाते हुए अन्तर्हृदय में समभाव जगाना होगा । यही सामायिक की साधना का राजमार्ग है ।

यह प्रक्रिया प्रतिदिन प्रात काल चलाई जानी चाहिये, ताकि पिछले चौबीस घटो के क्रियाकलापो तथा योग व्यापार की कडी समीक्षा की जा सके । इस समीक्षा में कलुपित चित्तवृत्तियो को धोई जाय— उन्हे निष्कलुष बना दी जाय । फिर उन्हे शुभता एव समभाव के क्षेत्र में गति कराई जाय । वे चित्तवृत्तिया तब स्वच्छ एव सोद्देश्य बन कर जीवन व्यवहार तथा आत्मविकास को सुव्यवस्थित स्वरूप दे सकेंगी । इस प्रक्रिया मे अपनी विगत भूलो के लिये पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त होगा तथा आगे से वैसी भूलें फिर न करने का सकल्प । प्रमाद-त्याग की ओर भी रुझान बढेगा । फिर इस नये समभावी आनन्द के सामने पदार्थ मोह भी कम होने लगेगा । विषमता कम होगी समता बढेगी । रागद्वेष घटेगा, कलुषितता कम होगी । भौतिकता सिकुड़ेगी और

आध्यात्मिक अभिवृद्ध होगी । वृत्ति संशोध के ऐसे सुपरिणाम अवश्य सामने आते है ।

मत बंधन का कारण होता है तो उसे मुक्ति का कारण भी बनाया जा सकता है । अतः आप स्वयं सामायिक साधना करें तथा बच्चों में भी ऐसे संस्कार भरें ।

दि. ३१-७-१९८६



पर्याप्ति और प्राण

यह जो मानव तन है—इस शरीर में कितनी शक्तियो का समावेश है—यह ज्ञातव्य है। कारण इन शक्तियों के सम्बल से मनुष्य बहुत कुछ करणीय कर सकता है। यह शरीर सुदूर की वस्तुओ को आकर्षित भी कर सकता है तो अपने विचारो का सम्प्रेषण सुदूर तक भी कर सकता है। आज यन्त्रों के माध्यम से संवाद दूर-दूर तक पहुचाए जा सकते हैं तो दूर-दूर से ग्रहण भी किये जा सकते है। यह कार्य भले टेलीफोन, टेलीविजन या अन्य यत्रो की सहायता से किया जाता है और इन उपलब्धियो को पाकर मनुष्य खुशी मनाता है, लेकिन इन यन्त्रो का आविष्कार करने वाले वैज्ञानिको ने भी जब इन यन्त्रो को एक तरफ रखकर अपने ही अन्त.करण में झाका और तत्सम्बन्धी प्रयोग उन्होने किये तो वे विना इन यत्रों की सहायता के भी सवादों का सम्प्रेषण करने लगे।

किन्तु आध्यात्मिकता से धनी होते हुए भी भारत के लोग या तो भौतिक विज्ञान में लगेंगे या स्वय के काम में ही व्यस्त हो जायेंगे लेकिन आतरिक खोज की तरफ मुश्किल से ही मुड़ेंगे। विदेशों में लोगो की प्रवृति गहराई तक आगे बढने की देखी जाती है। वे भौतिकता के

माध्यम से ही बाह्य और आन्तरिक खोज में जहां लगे हैं, उन्होंने कुछ सफल प्रयोग किये हैं। सुना गया है कि एक बहिन एक कमरे में बैठ गई और दूसरी बहिन कमरे के बाहर बहुत दूरी पर। इतनी दूरी पर कि वहा तक आदमी की आवाज नही पहुच सकती हो। तब दोनों बहिनो ने अपनी आन्तरिकता को सन्नद्ध बना ली। फिर पहली बहिन ने दूसरी को बहुत धीमे स्वर में कुछ कहा। दूसरी बहिन ने वह बात बता दी। तो ऐसी अनुपम शक्ति भी इसी शरीर में रही हुई है।

नाभि में कस्तूरी खोजिये

आज के युग में लोग अपनी समस्याओं का समाधान पाने के लिये बाहर ही बाहर देख रहे हैं और बाहर ही बाहर दौड रहे हैं-उस कस्तूरी मृग की तरह जो कस्तूरी की गध से कस्तूरी को खोजने के लिये वन प्रान्तर में भागता है जबकि कस्तूरी स्वय उसी की नाभि में होती है। आप भी कस्तूरी को नाभि में खोजिये और बाहर से अपनी दृष्टि और भागदोड को हटाकर अपने भीतर में झाकिये तथा वहा अपनी अनन्त शक्तियो के भण्डार को खोलिये।

तीर्थंकर देवो ने भव्य जीवो के कल्याण के लिये अपनी वाणी का दिव्य सन्देश दिया है, उसे न समझकर जो यह बाहर भागना हो रहा है वह मृगतृष्णा के सिवाय कुछ नही है। वीतराग भगवान् की प्रथम देशना आचाराग सूत्र में आकलित है। वह उपदेश कितना अधिक महत्त्वपूर्ण है-यह तो वही जिज्ञासु अध्येता जान सकता है जो उसका सूक्ष्म रीति से अध्ययन करे और सारतत्त्वो को ग्रहण करे। आज की वैज्ञानिक प्रगति की बातो पर लोग आश्चर्यचकित होते है, किन्तु शास्त्रो में ऐसे कई सूत्र-सकेत मिलते हैं जो उन्नत ज्ञान विज्ञान के अनुपम स्रोत हैं।

प्रभु महावीर ने फरमाया है—आयय चक्खु . . .परियट्ठिये। इस शरीर मे प्राण और पर्याप्तियो की विलक्षण शक्तिया है। पर्याप्ति शरीर मे शक्ति की खान होती है। इससे प्राण-शक्ति को बल मिलता है। पर्याप्तियो और प्राणो को अधिकाधिक रूप मे सन्तुष्ट कैसे कर सकते हैं-यह साधना का विषय है। यह अपने भीतरी जीवन को जानने

और विकसित करने का प्रश्न है। आयुर्वेद के विशेषज्ञो ने कहा है— घी: वै प्राणा अर्थात् घृत प्राण है, किन्तु इस वाक्य का भी अनुसधान आवश्यक है। क्या सिर्फ घी और जैसा भी बाजार में मिले खा लेने से ही प्राण पुष्ट हो जायेंगे ? ऐसा नही है। घी शुद्ध और ताजा हो और उसके साथ ही खा लेने वाला उसे पचा सके। यदि पचाने की ताकत नही है तो घी पुष्टता नही दे सकेगा। उसी प्रकार पर्याप्तियो तथा प्राणो का सदुपयोग नही किया जायगा तो वे पुष्ट होने की बजाय दुर्बल हो जायगी और इस शरीर से वांछित शक्ति प्राप्त नही की जा सकेगी। इस कारण इन शक्तियो के महत्त्व को आक कर उन्हे भली प्रकार पहिचाने और साधना से पुष्ट बनावे।

पर्याप्तियों की प्राप्ति व स्वरूप

आहार आदि के लिये पुद्‌गलो को ग्रहण करने तथा उन्हे आहार, शरीर आदि रूप में परिणत करने की आत्मा की शक्ति विशेष को पर्याप्ति कहते हैं। यह शक्ति पुद्‌गलो के उपचय से होती है। पर्याप्ति के छ भेद बताये गये हैं.—

(१) आहार पर्याप्ति—जिस शक्ति से जीव आहार योग्य बाह्य पुद्‌गलो को ग्रहण कर उसे खल और रस रूप में बदलता है, उसे आहार पर्याप्ति कहा गया है।

[२] शरीर पर्याप्ति—जिस शक्ति द्वारा जीव रस रूप में परिणत आहार को रस,खून,मास,चर्बी, हड्डी, मज्जा और वीर्य रूप सात धातुओ मे वदलता है,वह शरीर पर्याप्ति है। आहार पर्याप्ति द्वारा बने हुए रस से शरीर पर्याप्ति द्वारा वना हुआ रस भिन्न प्रकार का होता है। शरीर पर्याप्ति बनने वाला रस ही शरीर के बनने मे उपयोगी होता है।

[३] इन्द्रिय पर्याप्ति—जिस शरीर द्वारा जीव सात धातुओ मे परिणत आहार को इन्द्रियो के रूप मे परिवर्तित करता है उसे इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं। पाच इन्द्रियो के योग्य पुद्‌गलो को ग्रहण करके अना-भोग निर्वर्तित वीर्य द्वारा जीव की इन्द्रिय पर्याप्ति की शक्ति ही उन्हे इन्द्रिय रूप मे लाती है।

[४] श्वासोछ्वास पर्याप्ति—जिस शक्ति के द्वारा जीव श्वासोछ्वास योग्य पुद्गलो को श्वासोछ्वास के रूप मे ग्रहण करता है और छोड़ता है, वह श्वासोछ्वास पर्याप्ति कहलाती है। इसको प्राणापन पर्याप्ति और उच्छ्वास पर्याप्ति भी कहा जाता है।

[५] भाषा पर्याप्ति—जिस शक्ति के द्वारा जीव भाषा वर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करके उन्हे भाषा के रूप में परिणत करता है और छोड़ता है, उसे भाषा पर्याप्ति कहते हैं।

[६] मन. पर्याप्ति—जिस शक्ति के द्वारा जीव मन योग्य मनोवर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करके उन्हे मन के रूप मे परिणत करता है तथा अवलम्बन लेकर छोड़ता है, वह मन॰ पर्याप्ति है।

उपरोक्त पर्याप्तियो में श्वासोछ्वास, भाषा और मन पर्याप्ति में अवलम्बन लेकर छोडने का आशय यह है कि इन्हे छोडने में शक्ति की आवश्यकता होती है और वह इन्ही पुद्गलो का अवलम्बन लेने से उत्पन्न होती है। जैसे गेंद फेंकते समय पहले उसे जोर से पकड़ा जाता है जिससे गेद फेंकने की शक्ति प्राप्त होती है। इसी प्रकार बिल्ली ऊपर छलाग लगाने के पहिले अपने शरीर को सकुचित कर उससे ही सहारा लेकर कूदती है।

शरीर को इन पर्याप्तियो की प्राप्ति कैसे होती है ? एक जीवन से मृत्यु के वाद आत्मा नये जन्म के उत्पति स्थान में पहुचकर कार्मण शरीर द्वारा जव पुद्गलो को ग्रहण करती है तभी वह उनके द्वारा यथायोग्य सभी पर्याप्तियो को भी बनाना शुरु कर देती है। औदारिक शरीरधारी आत्मा के आहार पर्याप्ति एक समय मे और शेष पर्याप्तिया अन्तर्मुहुर्त मे क्रमश॰ पूर्ण होती हैं। वैक्रिय शरीरधारी आत्मा के शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने में अन्तर्मुहुर्त लगता है और अन्य पांच पर्याप्तिया एक समय मे पूर्ण हो जाती है।

इन छ पर्याप्तियो में से एकेन्द्रिय जीव के भाषा और मन पर्याप्ति के सिवाय चार पर्याप्तियां होती है। विकलेन्द्रिय असज्ञी पचेन्द्रिय के मन. पर्याप्ति के सिवाय पांच पर्याप्तिया होती हैं। संज्ञी पचे-

न्द्रिय के छहो पर्याप्तियां होती हैं। मनुष्य सज्ञी पचेन्द्रिय में आता है-यह आप जानते ही हैं।

प्राण ही प्राणी का जीवन

जिनके सम्बल से प्राणी जीवित रहता है, उन्हे प्राण कहा जाता है। प्राण दस प्रकार के बताये गये हैं—

[१] स्पर्शेन्द्रिय बल प्राण-स्पर्श की शक्ति।

[२[रसनेन्द्रिय बल प्राण-जिह्वा की रसास्वादन की शक्ति।

[३] घ्राणेन्द्रिय बल प्राण-नासिका की सूंघने की शक्ति।

[४] चक्षुरिन्द्रिय बल प्राण-आखो की दृष्टि की शक्ति।

[५] श्रोत्रेन्द्रिय बल प्राण-कानो की सुनने की शक्ति।

[६] काय बल प्राण-शरीर की समुच्चय शक्ति।

[७] वचन बल प्राण-वाणी की शक्ति।

[८] मन बल प्राण-मन की शक्ति।

[९] श्वासोछ्वास बल प्राण-सांस लेने-छोड़ने की शक्ति।

[१०] आयुष्य बल प्राण-आयु की शक्ति।

ये प्राण रहते हैं तो जीवन रहता है तथा इन प्राणो के वियोग में मृत्यु हो जाती है। इन दस प्राणो में से सब या किसी प्राण का विनाश करना हिंसा है। इसी दृष्टि से जैन शास्त्रो मे हिंसा के लिये प्राणातिपात शब्द का प्रयोग आता है जिसका अभिप्राय है कि किसी भी प्राण का अतिपात [विनाश] करना हिंसा रूप होता है।

एकेन्द्रिय जीवो में स्पर्श, काय, श्यासोछ्वास व आयुष्य रूप चार प्राण होते हैं। इन्द्रिय जीवो में ये चार प्राण होते हैं। द्वीन्द्रिय

जीवो मे ये चार और रसनेन्द्रिय तथा वचन बल प्राण-इस प्रकार छ' प्राण होते है । त्रीन्द्रिय में ये छ. तथा घ्राणेन्द्रिय बल प्राण इस प्रकार सात प्राण होते है । चतुरिन्द्रिय जीवों में ये सात और चक्षुरिन्द्रिय बल प्राण- इस तरह आठ प्राण होते हैं । असज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में ये आठ और श्रोत्रेन्द्रिय बल प्राण इस तरह नौ प्राण होते हैं जबकि संज्ञी पचेन्द्रिय जीवों मे दसों प्राण होते हैं ।

प्राणो के बल से ही इन्द्रियां कार्यक्षम होती है तो मन का सामर्थ्य भी इसी से प्रकट होता है । जिस प्राणी को जितने प्राण उपलब्ध है, उन्ही के अस्तित्त्व से उसका जीवन परिलक्षित होता है और उन्ही के समाप्त हो जाने से वह जीवन मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ।

शक्ति पुंज है मानव तन

सभी पर्याप्तिया और सभी प्राण इस मानव तन को प्राप्त हैं और इस दृष्टि से इसे शक्ति पुंज कहा जा सकता है । शक्ति पुज तो है यह मानव तन किन्तु शक्तियो को विकसित करके उन्हे प्रकट करने का पुरुषार्थ तो मानव को करना ही होता है । एक हजार वॉट का जलता हुआ बल्ब तो है, लेकिन अगर वह छोटे से घडे में बन्द है तो उसका प्रकाश चारों ओर कहां से दिखाई देगा ? श्रम करके उस बल्ब को घडे से बाहर निकालकर विस्तृत क्षेत्र में लगायेंगे तभी उसका प्रकाश प्रकट हो सकेगा । यही अवस्था मानव तन में रही हुई शक्तियों की भी हैं ।

यो सामान्य रूप से शक्तियों का विकास तो होता है और उसका अनुभव सभी लेते हैं । एक बालक की जो शारीरिक शक्तिया होती है, वे उसकी युवावस्था में दर्शनीय विकास पा लेती हैं । यह तो प्रकृति का खेल है । लेकिन इन शक्तियों के विकास मे जब मानव का पुरुपार्थ लगता है तो इस पुरुषार्थ की न्यूनाधिकता के कारण युवाओं के विकास में भी अन्तर दिखाई देता है । कोई युवा अधिक शिक्षित प्रशिक्षित होता है तो कोई मन्द बुद्धि । कोई युवा तेज तर्रार और स्फूर्तिवान होता है तो कोई ढीलाढाला और सुस्त । किसी युवा मे कोई भी कार्य सम्पन्न कर लेने का अमित उत्साह देखा जाता है तो कोई

युवा युवावस्था में होते हुए भी वृद्ध की तरह जर्जर जोश वाला होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य का शक्ति विकास के सम्बन्ध में किया गया प्रयास ही विशेष रूप से फलदायी बनता है। अत यह स्वयं मानव का ही दायित्व बनता है कि वह अपनी प्राप्त शक्तियो का किस रूप में विकास कर पाता है ?

प्रश्न है शक्तियों के प्रयोग का

यहां हम मानव तन के शक्ति विकास के तीन स्तर बनाकर विकास की रूपरेखा को समझ सकते हैं। पहला स्तर तो यह कि मानव अपने तन में रही हुई इन शक्तियो के स्वरूप को समझे और यह समझे कि इनका समुचित विकास सम्पादित करके वह कैसे-कैसे महान् कार्य सम्पन्न कर सकता है ? दूसरे स्तर पर उसे उन शक्तियो के विकास की सही विधि का ज्ञान लेना होगा और अपने अनुभव एव अभ्यास से उस विधि की परख करनी होगी कि उसका अनुपालन वह कितनी सजगता से कर पाया है। तीसरे स्तर पर वह उन शक्तियो के प्रयोग में सिद्धहस्तता प्राप्त करता हुआ शक्तियों के प्रकटीकरण में सफलता से आगे बढ जायगा।

इस विश्लेषण से यही मूल प्रश्न स्पष्ट होता है कि शक्तियों का प्रयोग किस रूप में किया जाता है। कारण, अपने प्रयोग की शुभता या अशुभता अथवा सद् या असद् रूपता से ही शक्तियो का तदनुरूप विकास सम्भव होता है। एक टिमटिमाते हुए दीपक का भी प्रकाश पाने के उद्देश्य से उपयोग किया जा सकता है। यह अलग बात है कि उसके प्रकाश का दायरा छोटा और मन्द होगा। उसी दीपक का विकास मशाल रूप में कर दिया जाय तो वह प्रकाश अधिक तेजवान और विस्तृत बन जायगा। और आज के वैज्ञानिक युग मे तो प्रकाश को अधिकाधिक तेजस्वी और अधिकाधिक विस्तृत बना देने के कई साधन निकल गये हैं। यह प्रकाश शक्ति का विकास है। उसकी जगह पर यदि कोई उस टिमटिमाते हुए दीपक को ही उठाकर कुए मे फेंक दे तो वह प्राप्त प्रकाश भी समाप्त हो जायगा और चारो ओर अंधेरा फैल जायगा। शक्तिवान् बनने का या कि शक्तिहीन हो जाने का भी यही क्रम होता है।

प्राप्त शक्ति का जितना सदुपयोग किया जायगा, उस शक्ति का तदनुसार विकास भी होता जायगा। इस विकास की प्रक्रिया में भी यदि सदुपयोग छूट जाता है तो प्राप्त शक्ति ही नही, उस शक्ति का प्राप्त विकास भी विनष्ट हो जाता है। अतः सदुपयोग का क्रम निरन्तर चलता रहना चाहिये बल्कि वह क्रम भी समुन्नत बनता जाना चाहिये। सदुपयोग की सुघडता बढेगी तो विकास की गति भी तीव्र बनेगी। इसके स्थान पर शक्ति का दुरुपयोग उस शक्ति को ही समाप्त कर देता है। शक्ति की धार और शक्ति की कुंठा को इस दृष्टि से समझ लेना चाहिये।

शक्तियों के अनुभव की उत्कृष्टता

भौतिकता रूप इन बाह्य शक्तियों के अद्भुत वैज्ञानिक विकास को देखकर भी जब लोग-बाग दंग रह जाते है तो भीतर की शक्तियों के विकास की उत्कृष्टता जब समक्ष आवे तो उसके आश्चर्य का कहना ही क्या ? यही नही, उससे प्राप्त अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव ही किया जा सकता है। वह अनुभव उत्कृष्ट अनुभव होता है।

मानव तन और जीवन का प्रधान लक्ष्य इन्हीं आंतरिक शक्तियों का उच्चतम विकास सम्पादित करना है। पर्याप्तियों और प्राणो के बल का सदुपयोग इसी लक्ष्य की सफलता के लिये समाहित करना है। समझिये कि आपको श्रोत्रेन्द्रिय प्राण का बल प्राप्त है। दीखने में और सच पूछें तो अज्ञान में यह छोटी-सी बात है कि आपको सुनने की शक्ति प्राप्त है। वट वृक्ष आपने देखा होगा कितना फैला हुआ विशाल वृक्ष होता है, लेकिन इसका बीज कितना छोटा-सा होता है केवल राई जितना। अब जिसको वट वृक्ष का ज्ञान न हो और वह उस बीज को देखे तो क्या उससे उत्पन्न होने वाले वट वृक्ष की विशालता का वह सही अनुमान लगा पायगा ? उसकी कल्पना भी वास्तविकता तक नही पहुंच सकेगी। यह सुनने की शक्ति छोटी दिखाई देती है, लेकिन इस शक्ति का सदुपयोग करते रहिये-अच्छी बातें सुनिये, तन मन सुधारने वाले विचार सुनिये और जागृत रहकर जिनवाणी सुनिये फिर देखते रहिये कि वह सच्चाई से सुनना इस जीवन में विकास की कैसी-कैसी मजिलें साध लेगा ? वह सुनना भीतर को आन्दोलित

करेगा, वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों को रूपान्तरित बनायगा तथा आपके छिपे दबे हुए पुरुषार्थ को सजग एव सक्रिय कर देगा। यो कहिये कि सुनने की एक शक्ति का ही सदुपयोग सर्वशक्तियो के सर्वोच्च विकास का द्वार खोल देगा।

पर्याप्तियों और प्राणों की यह एक-एक शक्ति विलक्षण है और अपने भीतर विकास का वटवृक्ष छिपाये हुए है। यह तो मानव पुरुषार्थ का यथार्थ दिशानिर्देश होना चाहिये कि वह उस बीज रूप शक्ति को विशाल वटवृक्ष के रूप में विकसित बना दे। शक्ति को इस रूप मे विकसित एव प्रकट करने का रहस्य सभी नही जानते हैं इसीलिये वीतराग देवों की वाणी का आधार लिया जाना चाहिये जिससे ऐसे विकास का स्पष्ट दिशा निर्देश प्राप्त है। ये अलग-अलग पर्याप्तिया और अलग-अलग प्राण विकास की प्रक्रिया में अलग-अलग नही रहते हैं। उस समय सबकी शक्तिया सयुक्त रूप ले लेती हैं और प्रखर बन जाती हैं। अपने ज्ञान की प्रारभिक दशा में मानव कभी-२ यह समझ लेता है कि ये प्राण शक्तिया अलग-अलग शब्दो मे सामने आने से अलग-अलग हैं किन्तु ये शक्तियां सारे शरीर में आत्मा की तरह एकरूप होकर व्याप्त हैं। एक-एक शक्ति का विकास अन्य सभी शक्तियो के विकास को अनुप्रेरित करता है अत विकास की प्रक्रिया भी एक प्रकार से संयुक्त रूप में ही चलती है। यह विकास जब एक-रूप बन कर प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होता है, तभी उसके अनुभव की उत्कृष्टता भी समुज्ज्वल रूप में परिलक्षित होती है। तब वैसा समु-ज्ज्वल स्वरूप सारे विश्व को प्रभावित करता है।

शक्तियों की संप्राप्ति और समर्पण

प्रभु महावीर ने पयाप्तियो और प्राणो के सुव्यवस्थित प्रयोग से साधना का स्वरूप पहले स्वय अपनाया और उससे केवलज्ञान व केवलदर्शन के रूप मे सर्वोच्च उपलब्धि प्राप्त की, तब उस प्रयोग के सम्बन्ध में उन्होने अपने अनुभूत सत्य को सब पर प्रकट किया। उस सत् का सार यह हैं कि शक्तिपुज की सम्प्राप्ति शक्तियो के सुव्यवस्थित प्रयोग से हो प्राप्त हो सकेगी और उनका विकास समर्पण की भावना के साथ ही सपुष्ट वन सकेगा।

इन शक्तियों को प्राप्त करके जो इनका स्वार्थ सिद्धि में प्रयोग कर लेता है याने कि दुरूपयोग करता है, वह इन शक्तियो को प्राप्त करके भी खो देगा। शक्तिया विकसित होती जाय और उनका सदुपयोग करते रहें यानेकि उन्हें लोक कल्याण एवं सर्वहित में समर्पित करते रहे तो वे शक्तियां उच्चतम विकास को प्राप्त करती हुई प्रखर बनती जाती है। इन शक्तियों की संप्राप्ति और समर्पण ही सच्चे विकास की राह है।

इन संजीवनी शक्तियों का समर्पण सच्चे अन्त करण के विना नही हो सकता है और इस अन्त.करण की सच्चाई आत्म शुद्धि से प्राप्त हो सकेगी। मन वचन काया का योग व्यापार शुद्ध बने तो वही शुद्धता व्याप्त होकर सकल आत्म प्रदेशों को शुद्ध वनाती है। कहा है णाणत्थ णिज्जाठयाए तवमाहिठिज्जो। इस समर्पण के साथ इस शरीर में रहने वाले प्राणो से यदि आत्म शुद्धि का लक्ष्य सफल नही वनाया तो यह जीवन ही असफल रह जायगा। आत्मशुद्धि के बाद ही ये शक्तियां सुव्यवस्थित बनती हैं और विकास करती हैं। इसी विकास से भाति-भाति की लब्धिया भी मिलती हैं। गौतम स्वामी ऐसी अलौकिक लब्धियों के भडार थे। आप जानते हैं कि ऐसी सम्प्राप्ति उन्होने इसी मानव तन से प्राप्त की जिसे औदारिक शरीर कहा जाता है। वे भी जन-जन के यहा से गोचरी-भिक्षा लाते थे और इस शरीर को धर्म साधना का सम्बल बनाते थे। सोचिये कि गौतम स्वामी इतनी लब्धियो के भण्डार कैसे बन गये? यह भी सोचिये कि हम खाली क्यो रह गये?

निराशा की कोई स्थिति नहीं है

हम खाली रह गये हैं तो खाली ही रहेंगे ऐसी निराशा की कोई स्थिति नही है। मुख्य साध्य है साधना जो आत्मशुद्धि और शक्ति विकास के लिये समर्पण के भाव के साथ होनी चाहिये, लब्धियां प्राप्त करने के उद्देश्य से नहीं। लब्धियो की कामना भी नही की जानी चाहिये। वे तो तदनुरूप विकास के साथ स्वयमेव प्राप्त हो जाती हैं जिन्हे भी साधक सर्वहित में समर्पित कर देता है। साधना का सुफल

होता है अनिर्वचनीय आनन्द जो इस आत्मा को परमपद तक पहुचा सकता है।

महावीर भगवान् ने इस शरीर की ओर संकेत करके आचाराग सूत्र में जो प्रसंग उपस्थित किया है, वह एक रूप में केवलज्ञान का स्वरूप है। "आयय चक्खु. ..चक्षु का सम्बन्ध शरीर के साथ है—" लोग विपस्सि. चक्षु सारे लोक को देखता है। यह शरीर भी लोक है। इस लोक की स्थिति का वर्णन भी इसमें आ जाता है। शरीर में इस लोक की रचना विद्यमान है। साधना काल मे इस शरीर को देखिये। इस आकाश में कुछ नही दीखता है परन्तु इसी में षड्द्रव्य रहे हुए हैं। यह दृष्टि-विकास का प्रश्न है जो साधना से प्रभु महावीर ने प्राप्त किया और सभी भव्य आत्माएं उसे प्राप्त कर सकती हैं। जिनको सयम की साधना मे ज्ञान के चक्षु प्राप्त हो जाते हैं, वे अपनी पर्याप्तियो तथा प्राणो का सम्यक् विकास भी साध लेते हैं। यह साधु जीवन परिपूर्ण आत्मशुद्धि एव समर्पणा के लिये स्वीकार किया जाता है। सयम में उच्च श्रेणी के भावो की ओर एक साधु का ध्यान उपयोग के साथ लगा रहता है—इसी अन्तर्दृष्टि को 'आयय चक्खु' कहा गया है। संयम की आराधना से ध्यान योग की साधना उच्चस्थ बनती है।

सबके प्राणों की रक्षा करें

समर्पणा का अन्तर्निहित अर्थ यही है कि अपनी पर्याप्तियो व प्राणो का बल-विकास सबके प्राणो की रक्षा का सम्बल बने। सयम से चलें तो प्रत्येक प्राणी के साथ आत्मिक सम्बन्ध का ज्ञान होगा तथा आत्मवत् व्यवहार करने का विवेक सजग बनेगा। यह विदित होगा कि जो किसी भी अन्य प्राणी को कष्ट होता है वह मेरा हीं कष्ट है। इस कारण अन्य प्राणी को कष्ट देने का दुष्ट भाव पैदा ही नहीं होगा सर्व रक्षा का भाव ही प्रबल रहेगा। इतना ही नही, यह सत्प्रयास रहेगा कि सबकी पर्याप्ति एव प्राणशक्तियां सुव्यवस्थित रीति से विकसित वनें यह सत्प्रयास उपयोगपूर्वक चलेगा। सयम मे उपयोग वनाये रखने की स्थिति को तलवार की धार से भी तीक्ष्ण मानी गई है क्योकि वह सतत सजगता की निशानी है। और सतत सजगता ही, ध्यान रखिये कि समग्र शक्ति विकास का मूल होती है।

दि. १-८-१९८६

लक्ष्य अन्तर्यात्रा का

साधना के साधन रूप प्राप्त पर्याप्तियों एव प्राणो की शक्तियों का उत्कृष्ट लक्ष्य है अपनी आतरिक शक्तियो का सुव्यवस्थित विकास और इस लक्ष्य को हम अन्तर्यात्रा का लक्ष्य कह सकते हैं ।

यह आत्मा अनादिकाल से बहिर्यात्रा तो करती चली आ रही है जिसके परिणाम स्वरूप जन्म-मरण का चक्र उसे भीषण कष्टो में झकझोर रहा है लेकिन अब जबकि उसे यह दुर्लभ मानव तन प्राप्त हुआ है शक्तिपुंज स्वरूप-तो उसे अन्तर्यात्रा का लक्ष्य बनाकर आध्यात्मिक मार्ग पर गतिमान हो जाना चाहिये । इस जीवन में उपलब्ध शारीरिक एव मानसिक शक्तियो की सहायता लेकर यह आत्मा यदि आत्मिक विकास एव मोक्ष मार्ग का ध्यान नही करेगी तो फिर कब और कहा पर करेगी ?

आयय चक्षु का आशय

भगवान् महावीर को सदा सन्मुख रखकर प्रत्येक विकासकामी आत्मा को इस विषय पर गहरा चिन्तन करना चाहिये । प्रभु ने धर्म-ध्यान के चार पाये बतलाये हैं, जिनमें पहला पाया आज्ञा विषयक है

याने कि वीतराग वाणी ने आत्मोत्थान के जो सकेत बताये हैं, उन्हे अपने जीवन मे स्थान दिया जाय । हम भगवान् के भक्त कहलाते हैं-शाति और सुख की अभिलाषा रखते हैं तो भगवान् के अनूठे वचनो को जीवन मे उतारने का प्रयास करना ही चाहिये ।

भगवान् का एक वचन है-आयय चक्खु । क्या आशय है इसका ? सयम रूप चक्षु का निरन्तर दृष्टि विकास किया जाना चाहिये जो ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे गहराई तक दृष्टिपात कर सके और भावना पक्ष को सुदृढ बना सके । आयय चक्षु का अर्थ है अन्तर की आखें-जिनकी श्रेष्ठता एव तीक्ष्णता के आधार पर ही अन्तर्यात्रा का लक्ष्य सफल बनाया जा सकता है । ये अन्दर की आखे इतनी महत्त्वपूर्ण है कि यदि ये खुल जाय तो फिर बाहरी की आखे महत्त्वहीन हो जाती हैं । आयय चक्षु का दूसरा अर्थ उस पवित्र शक्ति से है जो आत्मा के निर्मल स्वरूप को प्रकट करती है । वैसा निर्मल स्वरूप इस आत्मा को यदि सदा-सदा के लिये मिल जाय तो अन्दर की आखो से सम्पूर्ण लोक को देखा जा सकता है-इहलोक और परलोक को देखा जा सकता है । एक लोक यह शरीर भी है जिसकी शक्ति का एक-२ कण वैसी आत्मा देख सकती है । समुच्चय रूप मे एक निर्मल स्वरूपी आत्मा इस विराट् लोक की सम्पूर्ण शक्तियो का निरीक्षण कर सकती है तथा उसके रहस्यो का उद्घाटन कर सकती है ।

मनुष्य-शरीर को कार्यक्षम बनाये रखने के लिये बाहर से आहर, पानी और हवा वगैरा लेनी होती है । लोक मे रहे हुए अन्य परमाणु भी उसे पुष्ट बनाते हैं । यह एक स्थूल बात है । किन्तु इस स्थूल अन्न-जल की अपेक्षा कई ऐसे सूक्ष्म स्वरूप तत्त्व भी हैं जो आत्मा के लिये खुराक का काम करते है । दीखने वाले अन्न-जल आदि शरीर के पोषक है तो प्राणो का पोषण करने वाले न दीखने वाले कई अन्य तत्त्व भी हैं । मनुष्य को इन्ही तत्त्वो को ग्रहण करने की कला सीखनी चाहिये ।

प्राण पोषण की आवश्यकता

मनुष्य चाहे घर मे रहे या दूर देश भी जावे तब भी शरीर पोषण के तत्त्वो का वह पहले खयाल करता है, उसी तरह अगर अपने

प्राणो के सुपोषण का भी खयाल रखे और उसके योग्य तत्त्वो को ग्रहण करता रहे तो उसका आतरिक जीवन भी सम्पुष्ट बन सकता है। प्राण-पोषण के विषय में ज्ञान एव प्रयास के अभाव में शरीर भले पुष्ट होता चला जाय लेकिन प्राण शक्ति दुर्बल होती जाती है। वेदनीय कर्म का उदय हो तो बात अलग है, लेकिन सामान्य रूप से ऐसी निरारभी विधि अपनाई जाय जिससे कान, आख या अन्य प्राणो की शक्ति सजग और कार्यक्षम बन सके। क्या हो सकती है ऐसी निरारभी विधि ? यह विधि सामान्य भोजन के साथ ही अपनाई जा सकती है जिसके प्रभाव से प्राणो को अपेक्षाकृत अधिक शक्ति मिल सकती है। यदि ऐसी विधि सीख ली जाती है तो शरीर की मक्खन रूप प्राण शक्ति विशेष रूप से लाभान्वित बन सकती है।

एक व्यक्ति मिष्ठान्न खाकर शरीर की शक्ति को बढाना चाहता है। वह खाता जरूर है किन्तु उससे सीधा शक्ति का निर्माण नही होता है। पहले भोजन के पच जाने पर रस बनता है किन्तु यह पचने की क्रिया भी विधिपूर्वक नही हो तो पेट मे गडबड़ पैदा हो सकती है–पुष्टता आने की बजाय दुर्बलता महसूस हो सकती है। डॉक्टर ईलाज करता है और कमजोरी के लिये ग्लुकोज के इजेक्शन लगाता है तो ग्लुकोज के लिये पचने की सारी प्रक्रिया जरूरी नहीं होती। वह सीधा प्राण शक्ति पर असर डालता है। इसी प्रकार यदि विधि का पालन किया जाय तो बाहरी डॉक्टर की जरूरत नही रहती है और वह खुराक सीधा प्राण पोषण करती है।

इस शरीर मे जो प्राण रहे हुए है, उन्हे कोष कहते है। यौगिक प्रक्रिया मे इनका यही नामकरण है जैसे अन्नमय कोष, मनोमय कोष या प्राणमय कोष आदि। प्रभु महावीर ने आध्यात्मिक उपदेशो के साथ-साथ शरीर एव प्राणो की खुराक का भी सकेत दिया है। वह सकेत इस रूप मे नही है कि एक साधु को किस प्रकार का भोजन करना चाहिये बल्कि इस रूप में है कि भिक्षावृत्ति वह किस प्रकार करे और जैसा गृहस्थो के यहा से आहार प्राप्त हो उसको किस मात्रा में किस विधि से ग्रहण करे। ये सकेत इसी दृष्टि से हैं कि साधु के प्राणो का पोषण सम्यक् रीति से हो सके। कारण सयम के

अनुपालन के लिये भी प्राण शक्ति का पोषण आवश्यक है ।

विधि है सहजिक योग की प्रक्रिया

आहार पानी ग्रहण करने की जो सम्यक् विधि है वह है सहजिक योग की प्रक्रिया । इस प्रक्रिया से शरीर व प्राणो का पोषण इस रूप में सही तरीके से हो सकता है कि वह पोषण अन्तर्यात्रा के लक्ष्य का पूरक बन जाता है ।

साधु यह सोचे कि मुझे अपने शरीर और प्राणों को सांसारिक भोगो में फसा कर मिट्टी में नही मिलाना है-जो आहार पानी आदि मैं ग्रहण कर रहा हूं उससे मुझे अपनी अन्तर्यात्रा को सफल बनाने के लिये आवश्यक ऊर्जा ग्रहण करनी है । समीक्षण ध्यान की प्रक्रिया से आन्तरिकता में प्रवेश करके यदि वर्तमान एव भावी जीवन को उज्ज्वल बना लिया जाय और साधु जीवन को सन्तुष्ट कर दिया जाय तो बाहर का आहार पानी ग्रहण किये बिना भी शरीर और प्राणो को सशक्त बनाये रखा जा सकता है । वह अपना भोजन अदृश्य वायुमण्डल से ही ग्रहण कर सकता है । इस आंतरिक विकास से उसे लब्धियां भी प्राप्त हो सकती है, किन्तु उसे उन लब्धियो में अटकना नही चाहिये । जो समीक्षण ध्यान की प्रक्रिया से अन्तर्यात्रा में प्रवेश करता है, वह प्रभु महावीर द्वारा उपदेशित 'आयय चक्खु' को भी उपलब्ध कर सकता है । 'आयय चक्खु' की दृष्टि चौदह राजू लोक में रही हुई सकल शक्तियो को पहिचानती है और आवश्यकतानुसार उन्हे ग्रहण कर लेती है । वह स्थूल एव सूक्ष्म शरीर के दोनो अवस्थानो को जानती है तथा औदारिक रूप स्थूल शरीर एव तैजस व कार्मण रूप सूक्ष्म शरीरो का यथोचित रूप से विकास भी कर लेती है ।

'आयय चक्खु' के स्वरूप का चिन्तन करने के लिये शास्त्रों मे एक रूपक दिया गया है । यह रूपक है नाचते हुए एक भोपे का । इस लोक को समझने के लिये यह रूपक दिया गया है । राजस्थान के लोग भोपे की पोशाक को समझते हैं । नीचा फैला हुआ अंगरखा पहिन कर जब भोपा नाचता है तो नीचे से अंगरखे का घेर फैल जाता है और कमर का भाग सिकुड़ा हुआ रहता है । ऐसा ही आकार कहा

गया है इस चौदह राजू लोक का । नीचे के फैले हुए भाग में एक से लेकर सात नरक हैं और बीच के सिकुडे हुए भाग में तिरछा लोक है, जिसमें मुख्य रूप से मनुष्य और पशु-पक्षी रहते हैं । ऊपर के भाग में ग्रैवेयक, अनुत्तर विमान आदि देवलोक हैं और सबसे ऊपर सिद्ध शिला है । देवलोको में भी ऊपर की अपेक्षा नीचे सन्तोष की मात्रा घटती रहती है जो तिरछे लोक से नीचे तक घटती ही जाती है ।

कहने का अभिप्राय यह है कि इस लोक का आकार पुरुष शरीर के समान बताया गया है जिसका अन्तर्हित अर्थ यही हो सकता है कि इस पुरुष शरीर में सम्पूर्ण लोक का रूपक रहा हुआ है । इस लोक को समझना है-इसकी प्राण शक्ति को समझना है और समझकर यही निष्कर्ष निकालना है कि अन्तर्यात्रा के लक्ष्य को सफल बनाने के लिये पर्याप्त रूप से शक्ति लाभ कैसे लिया जाय ? सहजिक योग की विधि एव समीक्षण ध्यान को प्रक्रिया को अपना कर कैसे अन्तर्यात्रा के लक्ष्य को सम्पुष्ट बनाया जाय ।

शरीर ज्ञान शरीर मुक्ति के लिये

पुरुष शरीर को लोक सरचना की उपमा देते हुए प्रभु महावीर ने आगे सकेत दिया है-गड्ढे लोए अणु य परियट्टई । जो आत्माए इस लोक में गृद्ध-आसक्त बनती हैं, वे ससार में परिभ्रमण करती हैं । मानव जव इस शरीर का ज्ञाता बनने की वजाय इस शरीर मे आसक्त बन जाता है तब वह न तो इस शरीर के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कर सकता है और न ही लोक की उन्नायक सरचना को समझ सकता है । शरीर में आसक्ति हो जाने के कारण वह अपने प्राणों की शक्ति को भी नही पहचान सकता है । वह प्राणो की शक्ति को नही पहिचानता है तो उनका सुव्यवस्थित रीति से विकास भी नही कर सकता है जिसके अभाव में आत्म स्वरूप की शुद्धि भी सम्भव नही होती है । इस सारी अवस्था का एक ही दुष्परिणाम होता है और वह है निरन्तर ससार परिभ्रमण का जन्म-मरण के कष्ट का ।

यह ज्ञातव्य है कि शरीर के स्वरूप और उसकी शक्तियों का ज्ञान इसलिये नहीं करना है कि विषय भोगो का आसक्ति पूर्ण सेवन

किया जाय बल्कि इसलिये करना है कि शरीर ज्ञान से शरीर मुक्ति का लक्ष्य पूरा किया जाय। अन्तर्यात्रा का यही तो अन्तिम लक्ष्य है कि यह आत्मा शरीर-बन्धन से मुक्त बनकर मोक्षगामी बन सके। वस्तुतः शरीर ज्ञान शरीर मुक्ति के लिये है। यह चिन्तन करने की आवश्यकता है कि यदि मैंने शरीर का सागोपांग ज्ञान नही किया–इसकी अनोखी प्राण शक्ति का अनुभव नही लिया तो यह जीवन ही निरर्थक है। यह सोचने की बात है कि जन्म लिया, खाया-पिया, ऐश आराम किया और मर गये तो ऐसा जीवन क्या पशुवत् नही होगा ?

स्थूल रूप से ही सोचे कि आप जिस कुल और परिवार में जन्मे हैं और समझ पकडने के बाद उस कुल और परिवार की प्रतिष्ठा व रीति को नही समझे तथा तदनुसार व्यवहार नही करे तो सब लोग आपको क्या कहेगे ? यह नही कहेगे कि कितना अज्ञानी है–अपनी कुल परम्परा को भी नही समझता?आप इस रूप में सबकी निन्दा के पात्र हो सकते हैं। इसी रूप में आप अपने शरीर को भी देखिये। कुल परम्परा को नही समझें तो आप उस परिवार में बैठकर दुराचार भी कर सकते हैं या कि अत्याचार भी कर सकते है। उस दशा में सारे समाज मे आपके प्रति कैसी प्रतिक्रिया होगी ? शरीर के विज्ञान को भी आप नही जानें तो ऐसी ही दुर्दशा हो सकती है। सच पूछें तो ऐसी दुर्दशा हो रही है—वेभावी मे उसको देख-समझ न सकें-यह दूसरी बात है। अज्ञान में सुव्यवस्था कठिन होती है। शरीर स्वरूप और उसके शक्तिपुंज का ज्ञान न होने के कारण एक ओर तो उसका दुरूपयोग करके जीवन को निरर्थक बनाया जाता है जो ससार परिभ्रमण का हेतु बनता है। दूसरी ओर इसी शरीर के सम्बल से अन्तर्यात्रा सफल बनाई जा सकती है, उस विकास से वचित रहना पडता है। उत्थान न हो यह एक बात लेकिन पतन की ढलान पर फिसलते रहे तो फिर इस मानव जीवन का अर्थ ही क्या रहेगा ?

शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्

शरीर सबसे पहले निश्चित रूप से धर्म-ध्यान का साधन है। यही इसका श्रेष्ठ सदुपयोग कहा गया है। जैसे आपके निवास का अपना घर या बगला होता है, वैसे ही इस आत्मा के निवास का यह

शरीर एक वगले के समान है । जिस बंगले में आप रहते हैं, यदि उसके गलियारों, दरवाजों, कमरो या कोठारों का आपको ज्ञान न हो तो क्या उसमें सुविधा से रहा जा सकता है ? आप झट बोल पड़ेंगे कि कोई एक वगले में रहे और उसके गलियारों, दरवाजों आदि को न जान पाए--ऐसा हो ही कैसे सकता है ? यह ज्ञान तो अनिवार्य है। जब चूने पत्थर के वगले का ज्ञान तो आप अनिवार्य मानते हैं और शरीर-ज्ञान की अनिवार्यता को नही समझ पाते हैं—यह कैसी विडम्बना है?

आप सडक पर नही रहते-वंगले में रहते हैं-ऐसा क्यो ? आप मानते हैं कि सडक पर सुरक्षा और सुविधा नही रहती जो घर या वगले में ही मिलती है । तो क्या वही सुरक्षा और सुविधा आपकी आत्मा को नहीं चाहिये ? शरीर को तो सुख से वगले में रखना चाहते हैं और आत्मा के सुख का खयाल नही रखते हैं तो क्या वास्तव मे शरीर भी सुख मे रह सकेगा ? जिसको जैसा साधन चाहिये, वैसा साधन उसे दिया जाय तभी उसे सुख का अनुभव हो सकता है । इस शरीर का मुख्य उपयोग ही आत्म-सुख है । वगले में अगर रहने वाला सुख नही पाता हो तो उस वगले का क्या उपयोग ?

इस कारण इस वस्तु स्थिति को समझिये कि इस मानव-शरीर का अस्तित्व एव उपयोग इसमें रहने वाली आत्मा के सुख के लिये ही है और आत्म-सुख का प्रधान स्रोत है धर्म । इसी दृष्टि से शरीर को धर्म साधना का सवल माना गया है। शरीर के इस मूल धर्म को समझना और उसे उसके मूल धर्म में स्थापित करना यह अन्तर्यात्रा प्रारम्भ करने की पहली शर्त है । जैसे अपने वगले में रहने वाला उसका स्वामी इन रहस्यो को भी जानता है कि किस कोठार में तिजोरी कहां रखी हुई है और उसमें क्या-क्या बहुमूल्य पदार्थ पडे हुए है । वैसे ही शरीर की स्वामिनी आत्मा को यह ज्ञान होना परमावश्यक है कि इस शरीर मे कैसे-कैसे शक्ति भण्डार पडे हुए हैं और उन शक्तियों का सम्यक् विकास करके उनके प्रभाव से स्व-पर कल्याण कैसे साधा जा सकता है ? स्थूल ऋद्धि-सिद्धि की तो जानकारी कर लेते हैं लेकिन अपनी इस सूक्ष्म ऋद्धि-सिद्धि की जानकारी लेने का प्रयास भी न करें—यह खेदजनक लगता है ।

जानकारी लेने और जानकारी न होने में बडा फर्क पड़ता है । किसी वात या वस्तु की जानकारी न हो तो उसके उपयोग-प्रयोग

का भी ध्यान नही रह सकता है। आपके हाथ में एक हीरा पडा है–आपको जानकारी नही है कि वह बहुमूल्य पदार्थ है तो इसकी पूरी आशका मानी जा सकती है कि आप उसको व्यर्थ का काच का टुकडा समझ कर फेंक दे या उसका सही उपयोग न कर पावें। जिसको न जाने–उसको फेंक दे–यह तो मूर्खता होगी। सामान्य विवेक का तकाजा यह होता है कि जिसे आप नही जानते हैं उसे किसी के माध्यम से जानने का प्रयास करे। हो सकता है आपको सही माध्यम न मिले लेकिन नये माध्यम को ढूढने के रूप में अथवा अन्यथा आपका प्रयास जारी रहना चाहिये।

और जब कोई यथार्थ जानकारी आपको हो जाय तब अपना यह कर्त्तव्य मान लेना चाहिये कि हमारा व्यवहार व उपयोग-प्रयोग उस जानकारी के अनुसार ही हो। यदि सही जानकारी के बाद में भी सही व्यवहार नही करे तो क्या वह अतिशय मूर्खता नही होगी ? हम साधारण रूप से इसी कारण यह मानते हैं कि जानबूझकर कोई मूर्खता नही करता हे। इसलिये हम आपको जानकारी दे रहे हैं वीतरागवाणी की और आप भी श्रद्धापूर्वक उस वाणी की जानकारी ले रहे हैं, तब तो बुद्धिमानी इसे ही माननी चाहिये कि शरीर का ज्ञान करे और उसे धर्म का साधन मानकर तद्‌रूप उसका उपयोग-प्रयोग भी करें।

अन्तर्यात्रा और लक्ष्य एकाग्रता

धर्म साधना की महिमा ही यह है कि शरीर और उसकी शक्तियो को आत्म-सुख के हित में साधें एवं यह गतिशीलता ही अन्तर्यात्रा है। इस अन्तर्यात्रा में लक्ष्य के प्रति एकाग्रता होनी चाहिए। सगठित ध्यान जब तक नही हो तो अन्तर्यात्रा का क्रम चलना ही कठिन हो जाता है। इस लक्ष्य एकाग्रता को साधी जानी चाहिये ध्यान साधना से। जब तक अन्तर्यात्रा की साधना में ध्यान का केन्द्रीकरण नही होता–एकाग्रता नही बनती तब तक आन्तरिकता के स्वरूप को शुद्ध बनाने का उपक्रम भी नही जागता है। कोई-कोई भाई अनुभव करते होगे कि ससार की बातो मे तो ध्यान लग जाता है लेकिन सामायिक लेते हुए लोगस्स के छोटे से काउसग्ग में भी ध्यान एकाग्र नहीं रह पाता है। जरा सा शरीर के किसी भाग पर मच्छर बैठ जाता है

तो तुरन्त ध्यान उधर चला जाता है। यह एकाग्रता का दोप है। किन्तु यह दोप धीरे-२ अभ्यास से मिटेगा। योग साधना और ध्यान का अभ्यास जितना-२ पुष्ट होता जायगा-यह एकाग्रता भी सुदृढ बनती जायगी।

लक्षय की एकाग्रता का सुदृढ होना ही अन्तर्यात्रा की सफलता का सच्चा लक्षरण बनता है। इसी एकाग्रता को केन्द्रित करने के लिये ध्यान साधना के महत्त्व को आत्मसात् करना चाहिये।

ध्यान-साधना का सैद्धातिक स्वरूप

महावीर प्रभु ने ध्यान के चहुमुखी स्वरूप का ज्ञान-विज्ञान बताया है कि ध्यान अशुद्ध कैसा होता है और शुद्ध कैसा होता है तथा ध्यान को शुद्ध बनाते हुए शुभ ध्यान सावना क्रम किस प्रकार चलना चाहिये। ध्यान की शुभता उपलब्ध कर लेना ही साधना की सफलता है।

सबसे पहले इस हेतु यह जानिये कि ध्यान क्या होता है? छोटी-सी व्याख्या है कि एक लक्ष्य पर चित्त को एकाग्र करना ध्यान है। सैद्धातिक दृष्टि से इसको इस रूप में कह सकते है कि छद्मस्थो का अन्तर्मुहुर्त परिमाण एक वस्तु में चित्त को स्थिर रखना ध्यान कहलाता है। एक वस्तु से दूसरी वस्तु मे ध्यान का सक्रमरण होने पर ध्यान का प्रवाह चिरकाल तक भी हो सकता है। जिन भगवान् का तो योगो का निरोध करना ध्यान कहलाता है।

ध्यान की शुभशुभता की दृष्टि से उसके चार भेद कहे गये हैं-

(१) आर्त्तध्यान—दुख के निमित्त या दुख मे होने वाला ध्यान आर्त्तध्यान है। मनोज्ञ वस्तु के वियोग एव अमनोज्ञ वस्तु के सयोग आदि कारण से चित्त की व्यग्रता रूप ऐसा ध्यान होता है। जीव मोहवश राज्य का उपभोग, शयन, आसन, वाहन, स्त्री, गंध,माला मारिण, रत्न विभूपणो आदि मे जो अतिशय इच्छा करता है, वह भी आर्त्तध्यान ही है। आर्त्तध्यान के चार प्रकार हैं—(अ) अमनोज्ञ-वियोग

चिन्ता—अमनोज्ञ शब्द, रूप, गध, रस, स्पर्श विषय एव उनके साधन भूत पदार्थो का सयोग होने पर उनके वियोग की चिन्ता करना और भविष्य में उनका सयोग न हो ऐसी इच्छा रखना। इस ध्यान प्रकार का कारण द्वेष होता है (ब) रोग चिन्ता—शूल, सिरदर्द आदि रोग आतक के होने पर उनके वियोग के लिये तथा भविष्य में सयोग न होने के लिये चिन्ता करना। (स) मनोज्ञ सयोग चिन्ता—पाचो इन्द्रियो के विषय एव उनके मनोज्ञ साधन मिलने पर उनका वियोग न होने तथा उनके सयोग की चिन्ता करना। इसका मूल कारण राग होता है। (द) निदान-देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि के रूप गुण व ऋद्धि को देख सुनकर उनमे आसक्ति लाना तथा अपने सयम तप का फल उसकी प्राप्ति में निहित करना।

आर्त्तध्यान के चार लक्षण बताये हैं—आक्रन्दन, शोचन, परिवेदन और तेपनता।

(२) रौद्रध्यान—हिंसा, असत्य, चोरी, धन, रक्षा आदि में मन को जोडना रौद्रध्यान है। यह हिंसा आदि विषयो का अतिक्रूर परिणाम होता है क्योकि इसमें हिंसा की तरफ उन्मुख आत्मा अन्य प्राणियो को रुलाने वाले योग-व्यापार का चिन्तन करती है। जो पुरुष छेदना, भेदना, काटना, मारना, वध करना, प्रहार करना, दमन करना इन बातो में राग करता है और जिसमे अनुकम्पा भाव नही होता है, उस पुरुष का ध्यान रौद्र ध्यान कहलाता है।

रौद्र ध्यान के भी चार प्रकार होते है—(अ) हिंसानुबन्धी—हिंसाकारी व्यापारो को करने की चिन्ता। (ब) मृषानुबधी—मायावी पापाचरण करने वाले पुरुषो के अनिष्ट सूचक वचन आदि कहना व कहने की निरन्तर चिन्ता। (स) चौर्यानुबधी—तीव्र क्रोध एव लोभ से व्यग्र चित्त वाले पुरुष की अनार्य कार्यों मे निरन्तर चित्तवृत्ति का होना। (द) सरक्षणानुबधी—धन की रक्षा करने की कषायमयी चित्तवृत्ति रखना। इस रूप मे ये दोनो अशुभ ध्यान हैं।

(विषय का विस्तार आगामी प्रवचन मे)

दि २-८-१९८६

अन्दर की आंखें

समीक्षण ध्यान की प्रक्रिया को प्रारम्भ करने से पूर्व उसकी पृष्ठभूमि एव विधि का ज्ञान आवश्यक है। उसकी पृष्ठभूमि की दृष्टि से ध्यान विषय पर विचार किया जा रहा है, जिसके अन्तर्गत दो प्रकार के अशुभ ध्यानआर्त्त एव रौद्र ध्यान के स्वरूप को समझा गया है। अब शेष दो शुभ ध्यान-धर्म एव शुक्लध्यान के स्वरूप को समझें। इस स्वरूपज्ञान के माध्यम से भावो को अशुभता के क्षेत्र से निकालकर शुभता के क्षेत्र में ले जाने की प्रेरणा मिलती है तथा इसी प्रेरणा की पृष्ठभूमि पर समीक्षण ध्यान की विधि सफलीभूत हो सकती है।

शुभता में रमण कराने वाले ध्यान

जब मन एकाग्र होकर शुभ भावो में रमण करने का अभिलापी बनता है तब शुभ ध्यान–धर्म एवं शुक्ल ध्यान से उसे शुभता के क्षेत्र में स्थिर बनाते हैं। इनका स्वरूप निम्न प्रकार से समझना चाहिये.—

(१) धर्म ध्यान—ससार में रहे हुए पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के,पर्यालोचन में मन को एकाग्र करना धर्म ध्यान है धर्मध्यान में धर्म के विभिन्न

पहलुओं तथा श्रुत एवं चारित्र धर्म पर ध्यानपूर्वक चिन्तन किया जाता है। इसमें सूत्र और अर्थ की साधना करना, महाव्रतो को धारण करना, बध और मोक्ष तथा गति-अगति के हेतुओ पर विचार करना, पाच इन्द्रियो के विषयो से निवृत्ति लेना, प्राणियो के प्रति दया भाव रखना और इन सब सत्कार्यों मे मन की एकाग्रता का होना सम्मिलित है। एक प्रकार से धर्म ध्यान का साधक धर्म के सम्पूर्ण स्वरूप को आत्मसात् करने के चिन्तन मे निमग्न रहता है। ऐसा साधक जिन भगवान् एव साधु के गुणो का कथन करता है, उनकी प्रशसा करता है तथा विनीत, श्रुतिशील और सयम में अनुरक्त बनता है।

धर्मध्यान के चार प्रकार कहे गये हैं—

(अ) आज्ञा विचय—जिन भगवान की आज्ञा को एक धर्म ध्यानी सत्य मानते हुए उस पर श्रद्धा करता है और उसमे प्रतिपादित तत्त्वो का चिन्तन व मनन करता है। कारण, जिन भगवान् की आज्ञा सूक्ष्म तत्त्वो को दर्शाने वाली, अति निपुण, अनादि, अनन्त समस्त प्राणियो के लिये हितकारी, अनेकांत का ज्ञान कराने वाली, अमूल्य, अपरिसित, महान् प्रभाव वाली व महान् विषय वाली, निर्दोष, नयभग एव प्रमाण से गहन किन्तु अकुशल जनो के लिये दुर्ज्ञेय होती है। इस आज्ञा में धर्मध्यानी को कोई विषय समझ में नही आवे तथा उसका स्पष्टीकरण भी प्राप्त नही हो सके तो वह यह विचार करे कि ये वचन वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कथित हैं अतः सर्व प्रकारेण सत्य ही है। इस तरह जिनवाणी का चिन्तन-मनन करना तथा गूढ तत्त्वो के विषयो मे सन्देह न रखते हुए उन्हे दृढतापूर्वक समझना और वीतराग के वचनो मे मन को एकाग्र करना आज्ञा विचय नामक धर्मध्यान है।

(ब) अपाय विचय—राग, द्वेष कषाय, मिथ्यात्त्व, अविरति आदि आश्रव एव क्रियाओ से होने वाले ऐहिक-पारलौकिक कुफल तथा हानियों पर विचार करना। जैसे महाव्याधि से पीडित पुरुष को अपथ्य अन्न की इच्छा जिस प्रकार हानिकर है, उसी प्रकार प्राप्त हुआ राग भी आत्मा के लिये दुःखदायी होता है। प्राप्त हुआ द्वेष भी उसी प्रकार जीव को तपा देता है। वश में न किये हुए क्रोध और मान, तथा वढते हुए माया और लोभ—ये चारो कषाय ससार परिभ्रमण को

सभी क्रियाएं नष्ट हो जाती है। यह ध्यान सदा बना रहता है इसलिये इसे समुच्छिन्न क्रिया अप्रतियाती शुक्ल ध्यान कहते हैं।

शुक्ल ध्यान के भी चार लक्षण (लिंग) कहे गये हैं—(अ) अव्यथ-परिषह उपसर्गों से डर कर ध्यान से चलित नही होना। (ब) असम्मोह-अत्यन्त गहन विषयो मे अथवा देवादि कृत माया में सम्मोह नही होना। (स) विवेक-आत्मा को देह से भिन्न तथा सर्व सयोगों को आत्मा से भिन्न समझना। (द) व्युत्सर्ग-नि सग रूप से देह एव उपधि का त्याग करना।

शुक्लध्यान के चार आलम्बन-क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति माने गये हैं। इसकी चार भावनाए हैं—अनन्त वर्तितानुप्रेक्षा, विपरिणामानुप्रेक्षा अशुभानुप्रेक्षा तथा अपायानुप्रेक्षा। ध्यान का सर्वश्रेष्ठ सर्वोच्च एव मोक्षप्रदायक स्वरूप होता है इसी शुक्लध्यान का सर्वोत्कृष्ट रूप।

समीक्षण ध्यान शुभता का धरातल

सर्वोच्चता एव सर्वोत्कृष्टता के शिखर तक पहुचने के लिये जिस स्पष्ट एव शुद्ध धरातल की आवश्यकता होती है, उसके निर्माण का सबल साधन है समीक्षण ध्यान। इस ध्यान प्रक्रिया को प्रारम्भ करने के पहिले क्या कुछ करना पडता है, पहिले किसका समीक्षण किया जाना चाहिये तथा बादमे किसका इस विषय पर अपने भाव अभिव्यक्त कर रहा हू। यह अभिव्यक्ति इसलिये है कि समीक्षण ध्यान के योग्य भाव आपके मन-मस्तिष्क में प्रवाहित होते रहने चाहिये जिससे भाव शुभता का धरातल निर्मित हो सके। समीक्षण ध्यान करते समय आपका उपयोग उसमें लगा रहे क्योकि जिस अवयव व स्थान पर उपयोग लगाया जाता है, उस अवयव या स्थान की विशेष सक्रियता बढ जाती है।

मनुष्य जीवन और तन की ऐसी भव्य रचना है कि अपने उपयोग के माध्यम से जिन शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवो का विकास करना चाहते हैं, जिनको सक्रिय करना चाहते है या जिन उपलब्धियो को

प्राप्त करना चाहते हैं, वैसा विकास, वैसी सक्रियता अथवा वैसी उपलब्धिया प्राप्त कर सकते हैं। इस विश्व मे ऐसा कोई अन्य जीवन और तन नही है जो इस ध्यान प्रक्रिया के योग्य हो। इसी शरीर में छहो पर्याप्तियो तथा दसो प्राणो का बल रहा हुआ है। उन्ही सब बलो को यह ध्यान प्रक्रिया सचालित करती है और उपयोग शक्ति को समुन्नत बनाती है-इतनी समुन्नत कि जहा चाहे उतनी दूर उसे दौडा सकते हैं या कि सन्देश प्रेषित कर सकते हैं। किन्तु उपयोग मे कैसी विमलता होनी चाहिये, उस विमलता से सम्बन्धित बातो का पहले ध्यान रख लिया जाना चाहिये।

उपयोग शक्ति की सक्षमता

पर्याप्तियो और प्राणो के विषय मे जो कुछ सकेत दिये गये थे, उसके अनुसार शरीर की तरह प्राणो को भी भोजन की आवश्यकता होती है। आत्मा को भी उसके योग्य पाथेय की आवश्यकता होती है। यह कार्य मनुष्य जीवन मे रहने वाली ज्ञानवान् आत्मा ही करने में सक्षम होती है, अन्य नही। इस ज्ञानवान् आत्मा की जानकारी काफी लम्बे समय से चल रही है, किन्तु अन्यान्य कार्यों मे व्यस्त रहने से वह लुप्त-सी हो रही है। इसी कारण इन्द्रियो पर उपयोग लगाने मे वह अपने सामर्थ्य का प्रयोग नही कर पा रही है। दीर्घकाल से अभ्यास छूटा हुआ है, इसलिये वह अपने उपयोग को क्रियान्वित नही कर पाती है। इसके अभाव मे मस्तिष्क तरोताजा नही रहता और व्यर्थ के सकल्प-विकल्प चलते रहते हैं। यह स्थिति साधना की बाधक बनी हुई है। अब दृढ सकल्प के साथ इन बाधाओ को एक ओर हटाकर प्रभु महावीर के अमोघ सूत्र को ध्यान मे लेना चाहिये कि आयय चक्खु परिवद्धई।

जो साधक अपनी आयय चक्खु अर्थात् अन्दर की आखे खोल देता है, वह बहुत लम्बी दूर तक देखने वाली चक्षु-शक्ति को विकसित बना लेता है। भले ही इस शक्ति का प्रारम्भ मे स्वल्प विकास ही हो लेकिन समय आने पर दृष्टि दूरगामी बन जाती है। इसलिये चक्षु-शक्ति के इस स्वरूप को समझने की प्रक्रिया चालू कर देनी चाहिये जिसका प्रमुख और प्रभावशाली माध्यम है समीक्षण ध्यान। यह समीक्षण दृष्टि रूप उपयोग को ही प्रधानता देकर चलता है। उसकी प्रज्ञा

से इस शरीर मे अवस्थित तीनो लोको की स्थिति बड़े रूप मे गले से ऊपर उर्ध्वलोक, कमर तक मध्य लोक तथा नीचे अधोलोक स्पष्ट होने लगती है। दूसरी दृष्टि से ललाट से ऊपर का हिस्सा उर्ध्व लोक, भृकुटी के आसपास मध्यलोक और मुह के आसपास अधोलोक माना गया है।

यह उपेक्षित रूपक है—एक कार्य करने के लिये कल्पित स्वरूप है। इन तीनो लोको की तरह समीक्षण दृष्टि का उपयोग करना है कि इनकी किस प्रकार की रचना होती है। गले के ऊपर उर्ध्वलोक है, उसमें जीवन का समग्र स्वरूप ऐसे केन्द्रो (सेन्टर्स) मे भरा हुआ है कि जिनका विज्ञान हो जाय तो मानव का सक्षम उपयोग वर्तमान सारे सकटो से सघर्ष करने मे सफल बन जाय। फिर वही सक्षम उपयोग रचनात्मक कार्यों और साधना विषयो मे प्रयुक्त किया जा सकता है। जैसे आप लोग जानते हैं कि आज के युग में सरकार द्वारा रेलो, बैंको या बसो आदि का राष्ट्रीयकरण हो जाता है तो इनके सभी साधन सरकार के अधिकार में चले जाते हैं। उसी तरह इस जीवन के भिन्न-भिन्न सेन्टरो मे जो शक्तिया कार्य कर रही है, उन्हे समीक्षण ध्यान के माध्यम से सुव्यवस्थित बना कर यदि उपयोग अपने नियन्त्रण मे ले ले तो मानव आत्म-नियत्रित बन सकता है—स्वय सचालक हो सकता है। इस रूप मे वह सर्व तत्र-स्वतत्र की अवस्था का अनुभव कर सकता है-तब वह परमुखापेक्षी नही रहेगा। इतनी सारी क्षमता इस जीवन मे है। इसको विकसित करने के लिये समीक्षण ध्यान का प्रयोग उर्ध्वलोक मे ही होना आवश्यक है। उसकी त्वचा को नही देखना है किंतु उसमे जो प्राणशक्ति है उसको जागृत करना है। वैसी ही मध्यलोक और अधोलोक की भी स्थिति है।

समीक्षण ध्यान साधना

समीक्षण ध्यान साधना के माध्यम से सबसे पहिले उर्ध्व लोक मे प्राण शक्ति को व्यवस्थित करने का कारण यह है है कि वही से प्राण शक्ति सारे शरीर मे व्याप्त है। जहां तक सवेदना होती है, वहां तक तो वह सामान्य रूप से अनुभव की जाती है लेकिन वह गहराई तक व्याप्त होती है। वहा स्थूल शरीर के कुछ अवयवो की कोशि-

काए सूक्ष्म शिराओ का एक समूह से लगी होती हैं। प्राण शक्ति के प्रवाह में जब ये शिराए जग जाती हैं तो उसका प्रवेश भीतर की गहराई मे सुगमता से हो सकता है। यदि ये शिराएं जागृत न बने तो अंधेरे में हाथ फैलाने की स्थिति बनती है। इन शिराओ को जगाने के लिये ही योग साधना बताई गई है। उस योग साधना का प्रारंभिक प्रयास समीक्षण ध्यान के रूप में लिया जाना चाहिये। इस ध्यान में जब उपयोग लगाया जाता है तो ऊपरी स्थिति जम जाती है और गहराई में प्रवेश सम्भव बन जाता है। इस शिरा–जागृति का प्रभाव इस रूप में अनुभव किया जा सकता है जैसे कि एक पुरुष नीद मे सोया हुआ बेभान होता है लेकिन जाग जाने के बाद वह अपने सभी काम व्यवस्थित रीति से पूरे करता है। जैसे तद्रा समाप्त होती है और जागृति का अनुभव होता है, वैसे ही शिरा-जागृति से भीतर जागृति का अनुभव होता है।

जब तक नेत्रो के आसपास की कोशिकाए सक्रिय बनकर गहराई मे जाने वाली शिराओ को जागृत नही बना देती हैं, तब तक दृष्टि विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ नही होती है–अन्दर की आखें खुलना शुरु नही होती है। इसलिये सबसे पहले वन्दना की प्रक्रिया मे तिक्खुत्तो का पाठ बताया है। यह रूढ या जड क्रिया नही है किन्तु योग साधना की क्रिया है–प्रश्न यही है कि उसे उतनी गहराई से समझने की चेष्टा की जाय। अधिकाश लोग इस रहस्य को नही जानते है कि गुरुजन और माता-पिता वन्दना करने के लिये क्यो कहते हैं। वन्दना कर ली जाती है लेकिन विधि को समझे बिना और विधिपूर्वक किये बिना उसका लाभ प्राप्त नही होता है श्रेणिक महाराजा ने विधिपूर्वक वन्दना के सुप्रभाव से ही छ नरक के बन्धनो को तोड़ दिया। इसी वन्दना की शक्ति मे हमारे भी बन्धन टूट सकते हैं, लेकिन उपयोग को जागृत एव सशक्त बना कर विधिपूर्वक वन्दना करने का अन्त.करण से अभ्यास किया जाना चाहिये। बेगारी की तरह वन्दना करना व्यर्थ है। इस प्रक्रिया में यथार्थता और एकरूपता आनी चाहिये। ध्यान रखिये कि वन्दना की क्रिया भी अन्दर की आखो को और प्राणशक्ति को जगानें वाली है। तीन बार प्रदक्षिणा की परिपाटी इसलिये है कि जिन्हे हम वन्दना करते हैं उनमे सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप तीन गुण

होते है और प्रदक्षिणा से हमारी अभिलाषा व्यक्त होती है कि वे तीन गुण हमे भी प्राप्त हो ।

वन्दन प्रक्रिया का अमित महत्त्व

किसी भी साधक की शक्ति एकदम इतनी विकसित नही हो जाती है कि ध्यान में बैठे और समीक्षण धारा मे रमण करने लगे। उसके लिये पूर्वाभ्यास आवश्यक होता है। वन्दन प्रक्रिया का अमित महत्त्व इस कारण भी है कि यह समीक्षण ध्यान की पूर्वाभ्यास प्रक्रिया बन जाती है। वन्दन प्रक्रिया करते समय सीधे खडे होना, बराबर झुकना, दोनो घुटनो पर बैठना और बराबर तीन वार प्रदक्षिणा करना जरूरी है। इस विधि में बराबर खडे होते हैं और मुडते हैं तो उससे वात रोग का असर घटता है। फिर अपने हाथो को ललाट पर लगाओ, अपने दाहिन हाथ से ऊपर लेकर बांई तरफ से नीचे नाभि तक घुमाओ। साथ ही समीक्षण ध्यान के उपयोग को भी चलने दो। ऐसी प्रक्रिया बराबर करने से शरीर के भीतरी सेन्टर्स मे सोई हुई प्राणशक्तिया जागृत होने लगती है। अवयो से लगी हुई स्थूल कोशिकाए तथा सूक्ष्म शिराए खुलने लगती हैं। यह जो आवर्तन है, वह सूक्ष्म शिराओ को खोलने के लिये है।

इस शरीर मे हृदय का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इसी से जुडे हुए अनेकानेक सेन्टर्स होते है और उनसे शिराए व फिर कोशिकाए लगी हुई होती हैं। ये कोशिकाए और शिराए सामान्य रूप से सोई हुई रहती हैं, इस कारण प्राणशक्ति का प्रवाह अवरुद्ध रहता है। हृदय के रोगी अनुभव करते हैं कि ऐसी अवस्था मे कई बार रक्त सचार भी रुक जाता है और रक्त चाप की पीडा भुगतनी पडती हैं। डॉक्टरो की दवाएं भी उस रक्त सचार को धक्का ही लगाती है-सतत प्रवाहित नही बना सकती है। यह धक्का गाड़ी क्यो चलाते हो ? क्यो नही वन्दन-प्रक्रिया को सार्थक बना कर उन्नत विधि से समस्त कोशिकाओ व शिराओ को जागृत बनाते हो ताकि शरीर की तन्दुरुस्ती अच्छी रहे, भीतर की प्राणशक्ति जागृत हो तथा अन्दर की आखो के खुलने का सौभाग्यशाली अवसर सामने आवे।

अन्दर की आँखें खोलो

बचपन से ही यदि बच्चों को वन्दन की सही प्रक्रिया का अभ्यास कराया जाय तो जल्दी ही उसकी अभिरुचि समीक्षण ध्यान की ओर प्रवृत्त हो सकेगी। अभ्यास का क्रम यदि एकनिष्ठ लगन और एकाग्रता से चले तो इसी जीवन में अन्दर की आखे खुल सकती हैं और वह दूरगामी दृष्टि मिल सकती है जिसे 'आयय चक्खु' का सूत्र परिभाषित करता है।

जीवन के प्रारम्भिक काल से ही इस प्रक्रिया का अभ्यास आरम्भ करने का एक बडा लाभ यह भी होता है कि कोमल वय और कोमल शरीर में कोशिकाओ व शिराओ की शीघ्र जागृति बन सकती है तथा अभ्यास क्रम भी शीघ्र पुष्ट हो सकता है। अभ्यास जितने विलम्ब से आरम्भ किय जाता, उसमे एकाग्रता भी देरी से आती है और पुष्टता प्राप्त करने मे अधिक समय विलम्ब होता है। यदि प्राणशक्ति का विकास जल्दी साध लिया जाय तो आगे की कठिन साधनाओ को सम्पन्न बनाने के लिये इसी जीवन में अधिक समय भी प्राप्त हो सकता है। प्राणशक्ति की जागृति और शुद्धि से चित्तवृत्तियो की विपथगामिता मिटाकर आत्मविकास की दिशा मे तेजी से आगे कदम बढाये जा सकते हैं। नाभि के नीचे घुमा कर तीन बार आवर्तन देना भी शरीर मे रही हुई तीनो लोको के नाडी केन्द्र को जगाना है। आत्म-प्रदेशो में परिस्पन्दन होकर समीक्षण ध्यान के प्रभाव से सभी कर्मों की निर्जरा एक साथ होने लगती है। अत' वन्दन प्रक्रिया तथा समीक्षण ध्यान का अभ्यास बाल्यकाल से ही चालू कर दिया जाय तो आत्म-विकास के पराक्रम के लिये पर्याप्त समय रह जाता है। तीन लोकों का स्वरूप जानने के समान ही शरीरस्थ तीनो का दर्शन करने का ही यह अभ्यास होता है।

जीवन की सारी क्रियाए इसी जागृति से जग सकेगी। प्राण-शक्ति की जागृति इस सम्पूर्ण जागृति में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। प्राणो को जानने की प्रक्रिया कभी-२ ध्वनि के माध्यम से भी होती है—भ्रामरी प्राणायाम के अभ्यास से यह स्थिति स्पष्ट बनती है। यह जीवन छोटा अवश्य है लेकिन इसमें भी यदि उपयोग और

प्राणशक्ति को सक्षम बनाने के लिये साधना विधियों का प्रारम्भ से अभ्यास किया जाय तो इस छोटी अवधि मे भी बड़ी-वडी उपलब्धिया प्राप्त की जा सकती हैं। साधना की सदैव समीक्षा की जानी चाहिये कि कितना विकास हुआ है, वह उस साधना के अनुरूप पर्याप्त है या नही और नही है तो साधना विधि में कितनी गहरी निष्ठा और जागनी चाहिये।

दि. ३-८-१९८६



स्तुति-महिमा

श्री श्रेयांस जिन अन्तर्यामी ···· ··

श्रेयांस भगवान् की प्रार्थना कुछ समय से आपके समक्ष आ रही है। प्रार्थना किसी वस्तु को मांगने के लिये नही की जाती है। यद्यपि प्रार्थना शब्द याचना के अर्थ में अधिक व्यवहृत होता है लेकिन यह शब्द याचना के लिये रूढ हो गया है। प्रार्थना करने वाला पुरुष भौतिक तत्त्वो की याचना अपनी प्रार्थना मे करने की इच्छा नही रखता है। वह दृश्य जगत् के नाशवान पदार्थों की इच्छा नही रखते हुए अपने सत्पुरुषार्थ को शुद्ध उत्तम उद्देश्य की पूर्ति हेतु नियोजित कर देता है। आवश्यकता होती है शुद्ध उत्तम उद्देश्य को समझकर उसे हृदयगम कर लेने की। उसी उद्देश्य को ध्यान मे रखकर प्रभु की प्रार्थना की जाती है।

कभी-कभी प्रार्थना के इस रहस्य को न समझने वाले महानुभाव प्रार्थना को भी अन्य क्षुद्र अर्थों में ले लेते हैं। वे यह सोच लेते हैं कि प्रार्थना आध्यात्मिक दृष्टि के योग्य नही है। ऐसा सोचना सिद्धातो के परिपूर्ण ज्ञान के प्रति अज्ञता का सूचक है। प्रार्थना इस युग की देन नही है। प्रार्थना की परम्परा तो तीर्थकरो के समय बल्कि उससे भी पूर्व समय से चली आ रही है। अन्तर मात्र भाषा का

होता है कि जिस समय में जो भाषा प्रचलित होती है, उसी भाषा में प्रार्थना की जाती है ।

प्रार्थना का मौलिक स्वरूप

प्रार्थना का मौलिक स्वरूप कभी भी दूषित नही होता है और न वह कभी साधक के लिये ही दूषण का कारण बनती है । वह दूषण का कारण तब बनती है जब साधक ही शुद्ध लक्ष्य को भूलकर अपने मन को भौतिक तत्त्वो के रग से रंग लेता है और प्रार्थना करते समय उन भौतिक तत्त्वों की कामना कर बैठता है । यदि मन में भौतिक तत्त्वो की लालसा नही हो और शुद्ध उद्देश्य के साथ प्रार्थना की जाती हो तो वह आध्यात्मिक जीवन के लिये भूषण बन जाती है ।

शास्त्रो में भी प्रार्थना के मौलिक स्वरूप पर यथोचित रीति से प्रकाश डाला गया है । इसे जानने के लिये शास्त्रो का विधिवत अध्ययन तथा चिन्तन-मनन होना चाहिये । सूत्रकृतांग सूत्र मूल अंग के रूप में है । उसमें प्रभु महावीर की प्रार्थना एवं स्तुति की गई है । यह स्तुति वीर स्तुति के नाम से विख्यात है । उसमे महावीर प्रभु का उत्कीर्तन किया गया है और स्वय गणधरो ने उसे ग्रथित किया है । यदि प्रार्थना या स्तुति दोषपूर्ण मानी जाती तो गणधर उसे ग्रन्थित ही क्यो करते ?

योग साधना की प्रारभिक भूमिका के रूप में प्रार्थना को लीजिये । सही उद्देश्य है कि योग साधना में प्रवृत्ति करें और उस हेतु क्रिया रूप में सामायिक की आराधना करें । सामायिक के माध्यम से चित्तवृत्तियो को सशोधित करके जीवन में समरसता की प्राप्ति का उद्देश्य सामने रहता है । अब इस क्रिया के समय सच्चे अन्त करण से जब प्रार्थना या स्तुति की जाती है तो उसमें दो बाते ध्यान में रखनी चाहिये । जिस महापुरुष की स्तुति की जाती है, उसके आदर्श जीवन का चित्र अपने हृदय में अंकित हो जाना चाहिये और फिर यह अभिलाषा बलवती बननी चाहिये कि उस महापुरुष के आदर्श और सद्गुण हमारे जीवन मे क्रियात्मक रूप से प्रवेश करें । इस अभिलाषा के साथ जब सामायिक की आराधना की जायगी तो उस आराधना में आन्त-

रिक बल के साथ एक प्रकार की दृढता समा जायगी । वह साधक तब उस आराधना या साधना में मुश्किल से ही चलायमान हो सकेगा । अत. प्रार्थना या स्तुति के रूप मे ऐसी अडिग शक्ति की अभिलाषा की जाती है जो साधक को आत्मबल से बली बनावे ।

प्रार्थना या स्तुति की महिमा शास्त्रीय पाठो से भी सिद्ध होती है । सामायिक ग्रहण करते समय अन्य पाटियो के साथ लोगस्स सूत्र का भी उच्चारण किया जाता है । यह एक प्रकार से स्तुति सूत्र भी है तो प्रार्थना भी है । सिद्ध भगवान् की स्तुति करने के बाद अन्तिम पद में कहा जाता है कि सिद्धा. सिद्धि मम दीसन्तु अर्थात् हे सिद्ध भगवान् मुझे भी ऐसी सिद्धि प्रदान करावे । स्तुति और प्रार्थना एक-दूसरे की पूरक होती है–स्तुति आदर्श पुरुष की और प्रार्थना उसके आदर्श की । इसी प्रकार 'णमोत्थुण' की पाटी भी स्तुति और प्रार्थना का सयुक्त स्वरूप प्रकट करती है । स्तुति से सही उद्देश्य प्रकट होता है कि जिसके लिये प्रार्थना की जाय और यह प्रार्थना भी किसी से मागनी करना नही है बल्कि उस सही उद्देश्य को स्वय ही सफलीभूत बनाने का सकल्प लेना है । इस दृष्टि से स्तुति साध्य है और प्रार्थना एक साधन जबकि साधना तो स्वय साधक को ही करनी होती है ।

आदर्श और भावना का मेल

स्तुति महिमा को सभी मान्यताओ मे महत्त्वपूर्ण स्थान मिला हुआ है । प्रार्थना क्या करें–इसका उत्तर स्तुति देती है और वास्तव मे स्तुति पहले की जाती है, स्तुत्य के आदर्शो का गुणगान पहले किया जाता है और उसी गुणगान के अन्त मे प्रार्थना की जाती है कि वे आदर्श उसे भी प्राप्त हो और स्तुत्य उन आदर्शों की पूर्ति हेतु उसे आवश्यक बल प्रदान करे । इसमें भी यह समझने की बात है कि बल प्रदान करने की जो व्यक्त प्रार्थना उस स्तुत्य के प्रति है, वह सम्मान सूचक मात्र होती है क्योकि वह स्तुत्य न तो सासारिकता से सम्बद्ध होता है और न ही स्वय बल देने का कोई प्रयोग करता है । यह तो अव्यक्त रूप से आत्म निवेदन होता है कि स्तुत्य के आदर्श की प्रेरणा ही उसके हृदय को बलवान बनावे याने कि वह स्वय अपने आत्मबल को विकसित करे ।

तो स्तुति और प्रार्थना एक प्रकार से आदर्श और भावना का सुन्दर मेल बन जाती है । यो स्तुति और प्रार्थना को पृथक् रूप मे भी देखने की आवश्यकता नही है । स्तुति ही मुख्य होती है–प्रार्थना उसका उपसहार मात्र हैं । जिन आदर्शों ने हमे अनुप्राणित किया है, उन आदर्शों को प्राप्त करने में हमारा आत्मबल और समग्र प्रयास लगे यह प्रार्थना का भावनात्मक पहलू है । स्तुति से प्रेरणा मिलती है तो प्रार्थना से भावना तथा प्रेरणा और भावना संयुक्त बन कर साधना का सम्बल हो जाती है ।

कवि आनन्दघन की प्रार्थना का मैं सदैव उच्चारण किया करता हू । भाषा उन प्रार्थनाओ की १९वी सदी की है लेकिन उनकी भावना में शाश्वतता का गुण है । ये प्रार्थनाएं इतनी भावनापूर्ण एव गम्भीर हैं कि उनका अर्थ प्रकट कर पाना तो दूर-शब्दो को पहिचान पाना भी कठिन प्रतीत होता है । इन प्रार्थनाओ मे उन्होने तीर्थंकरो की स्तुति अवश्य की है किन्तु चौबीस तीर्थंकरो की स्तुति क्रमिक रूप से नही की है । उनको जब जिस तीर्थंकर की स्तुति करने का अन्त-र्नाद उत्पन्न हुआ, तब उन्होने उसी तीर्थंकर की स्तुति कर ली । इस कारण उनकी स्तुतियो मे सुविधिनाथ और अरिष्ठनेमि भगवान् की स्तुतियां छूट गई हैं । इसका रहस्य यह है कि स्तुति और प्रार्थना की प्रेरणा अन्त करण की गहराई मे से स्वय ही भावना के साथ उत्पन्न होती है तथा वही छलकती हुई भावना बाहर शब्दों के रूप में प्रकट हो जाती है । वे शब्द कोरे शब्द नही होते बल्कि हृदयस्थ भावनाओ के पुंज रूप होते हैं । भावनाओ की पूंजीभूत पक्तिया प्रार्थना बन जाती है ।

स्तुति का अन्तरानान्द

हम स्तुति के प्रसग से अपने अन्त करण मे छिपे उस आनन्द का रसास्वादन कर सकते है जो आनन्द सच्चा और शाश्वत होता है । उस स्तुति के भावभीने क्षण ही सरलता से हमे उस अन्तरानन्द की पहिचान करा देते हैं । जब स्तुतिगान के रूप मे तल्लीनता का वाता-वरण बनता है तो उस समय मे ध्यान उस ओर आकर्षित एव अनु-

रक्त हो जाता है। उस समय स्तुति-महिमा को समझने की जिज्ञासा भी सबल बन जाती है।

स्तुति-महिमा के इसी तात्त्विक चिन्तन एवं भाव-विश्लेषण को समझने की रुचि जगानी चाहिये। यह स्वाध्याय का भी विषय है, क्योंकि स्वाध्याय क्या है-यह आप जानते हैं ? स्वाध्याय अर्थात् स्व का अध्याय-अपना ही अध्ययन और चिन्तन। ऐसा प्रसग स्तुति एव प्रार्थना के समय ही गहराई से जागता है। स्तुत्य के क्या आदर्श है और उन आदर्शों के सदर्भ में हमारा जीवन कहा है तथा उन आदर्शों तक पहुचने के लिये हमे स्तुत्य के पदचिह्नो पर किस प्रकार चलना चाहिये। जब स्व का अध्ययन इस रूप मे चलता है तो भावना का वेग स्व की उन्नति के लिये स्व को संकल्पशील बना देता है। इस तरह स्तुति ही स्वाध्याय बन जाती है।

एक बच्चा शिविर में सम्मिलित हो गया, उसने प्रार्थना का पद या भजन गा दिया तो किसी ने चट से कह दिया-यह गाने मे भी दोष लगता है। लेकिन यहा के श्रोताओ के सामने भी यदि ऐसा प्रश्न आ जाय तो वे अच्छी तरह से उत्तर दे सकते हैं। कपिल केवली ने मच्छालियो को समझाने के लिये प्राकृत भाषा के पद को गायन के रूप मे उच्चारण करके उन्हे बोल दिया। शिविर के प्रसग से योग साधना की बात आई-उसी विषय को लेकर स्पष्टीकरण कर रहा हू। वास्तव मे सहजिक योग की साधना जो वीतराग देव ने बताई है, आज के मानव के लिये आवश्यक है। और इसी साधना के मुख्य अ ग के रूप मे समझी जानी चाहिये स्तुति एव प्रार्थना-जो उच्चरित की जाय या मन मे की जाय-भावना उसका प्रधान गुण के रूप मे दिखाई देनी चाहिये।

भावना का सर्वत्र प्रभाव

स्तुति और प्रार्थना के माध्यम से जो शुद्ध और सक्रिय भावना उत्पन्न होती है, उसका प्रभाव सर्वत्र परिलक्षित होता है क्योंकि वह भावना निज-स्वरूप को उपलब्ध कराने की चेष्टा उपजाने वाली होती है। इस भावना का अन्य कार्यों पर किस रूप मे शुभ और हितकारी

प्रभाव पड़ता है—इसे एक उदाहरण से समझिये । एक सामान्य व्यक्ति है और उसके सामने जब अति स्वादिष्ट भोजन करने का अवसर आता है तो वह उसमे आसक्त बनकर आवश्यकता से अधिक खा जाता है। अधिक खा जाने के बाद वह आलस्य से ग्रसित हो जायगा और अपने अन्य कार्य नियमपूर्वक नही कर सकेगा । वही अवसर यदि स्तुति और प्रार्थना के साधक के सामने आता है तो वह महावीर प्रभु के सन्देश-आहार मिच्छ मियमेसणिज्ज' को स्मरण करते हुए समाधि की भावना को प्रबल बना लेगा । वह चिन्तन करेगा कि वैसा आहार ग्रहण करके उसे पाच इन्द्रियो के विषयों का पोषण नही करना है और न ही शरीर को हृष्ट-पुष्ट बना कर भौतिकता के दलदल में फसना है । इस भावना के साथ वह अधिक आहार तो करेगा ही नही लेकिन समक्ष आया हुआ आहार यदि उसे अपनी साधना के अनुकूल नही लगेगा तो वह उसे ग्रहण ही नही करेगा । कारण, उसको इस तथ्य का विवेक होता है कि उसे भोजन शरीर के निर्वाह हेतु ही लेना है और शरीर का निर्वाह भी इसी रूप में करना है कि वह साधना के योग्य बना रहे । इस प्रकार स्तुति और प्रार्थना से उपजी भावना साधक के प्रत्येक कार्य में अपना प्रभाव अवश्य दिखाती है।

वस्तुतः ऐसी शुद्ध और उत्तम भावना ही उसकी सर्वत्र और सर्वदा दिशादर्शिका बन जाती है ।

भावना, बंध और कार्य की शुभता

तत्वार्थ सूत्र मे आचार्य उमास्वातिजी ने कहा है:—शुभः
जहां शुभ भावना आती है, वहां शुभ बंध भी होता है क्योंकि शुभ भावना के प्रभाव से कार्य कलापो में शुभता समा जाती है यहां तक कि भोजन करने के सामान्य कार्य में भी यदि शुभ भावना रहती है तो उससे भी पुन्य कर्म का बंध होता है । इसके लिये अन्तःकरण में सम्यक् दृष्टि भाव का संचरण होना आवश्यक है क्योकि ऐसे शुभ भाव से ही सकाम निर्जरा होती है । पुराने अशुभ कर्म नष्ट होने तथा नये अशुभ कर्मों का बंध नही होने से आत्मा की शुद्धता मे अभिवृद्धि होती रहती है । इस शुद्धता की प्राप्ति से अधिकाधिक पुण्यवानी का बंध होता है । इस वर्ष तरुण तपस्वी श्री राम मुनिजी आपको सुख

विपाक सूत्र सुना रहे हैं और आपने भी कर्मबंध के मर्म को समझा होगा कि आयुबंध किस प्रकार के भावों के आधार पर कैसा होता है। इस आयुबंध के अनुसार ही आत्मा को उसके भावी जन्म में तदनुसार रूप-विरूप या आकर्षण-विकर्षण की अवस्था प्राप्त होती है। सुबाहु कुमार के आकर्षक व्यक्तित्व को देखकर ही तो गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया था कि इस आत्मा ने पूर्व भव में ऐसी कैसी उत्कृष्ट पुण्यवानी का बंध किया है सो इसे इस जन्म में ऐसा सुन्दर व्यक्तित्व मिला है।

क्या आप भी सोच सकते हैं कि आपको वर्तमान में जो कुछ मिला हुआ है उसके परिप्रेक्ष्य में आपने अपने पूर्वभव में क्या किया होगा ? इससे आप अपने पहले के भावो तथा कार्यों का मूल्यांकन कर सकते हैं और यह सकल्प बना सकते हैं कि अब उससे भी अधिक उत्कृष्ट भाव रखें और सर्वजन हितकारी कार्य करे जिसके प्रभाव से भावी जन्म की उपलब्धियां अधिक उत्कृष्ट एव अधिक आत्मोन्नायक हो।

दान, शील, तप और भाव-ये इस आत्मा के विकास की सीढिया हैं। जीवन में आज जो शुभता दिखाई देती है, वह इन्हीं सीढियों पर चढने के कारण मिल पाई है-यह निश्चित मानिये। कई व्यक्ति इस शरीर की सजावट करते हैं, कई बहिनें भी साज-शृंगार करती हैं। क्या यह सब कुछ कर लेने पर भी सुबाहुकुमार जैसा व्यक्तित्व बन पाता है ? तो वह आकर्षण इस पोशाक या साज-सज्जा में नही होता है। वह तो मानवीय मूल्यों का आदर करने और उन्हे अपने जीवन व्यवहार में समाविष्ट कर लेने से मिलता है। इसलिये आज अपने भावो तथा अपने आचरण का मूल्यांकन करने का प्रसग है और यदि वैसी भावोच्चता, सिद्धात निष्ठा और आचरण श्रेष्ठता प्राप्त कर लेते हैं तो सुन्दर एव आकर्षक व्यक्तित्व का प्राप्त होना भी सहज बन जाता है। पोशाक कैसी भी हो और साज-सज्जा कतई न भी हो, तब भी वह व्यक्तित्व हर किसी को प्रभावित कर लेता है। यदि शरीर की तरफ ही ध्यान रखा जाता है तो समझिये कि उनमें आध्यात्मिकता की भाव दशा नही है। शुभ भावों का प्रादुर्भाव हो और वैसी भाव दशा इस जीवन में स्थायी रूप से ग्रहण करे—इसके लिये स्तुति

और प्रार्थना के द्वारा अपने अन्त करण का रूपांतरण करने का शुभ प्रयास प्रारम्भ कर दीजिये ।

स्तुति महिमा से परमात्म दर्शन

राजाजनक आध्यात्मिकता के अनुरागी और आराधक थे । उन्होंने घोषणा कि जो भी उन्हें परमात्मा के दर्शन करायगा, उसे वे मुहमांगा पुरस्कार देंगे । अनेक विद्वान् उपस्थित हुए और अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करने लगे किन्तु कोई भी उन्हे परमात्मा के दर्शन नही करा सका । उस समय एक साधक उनके द्वार पर उपस्थित हुआ । उसने द्वारपाल से कहा कि वह भीतर जाकर महाराजा को उसके आगमन व परमात्मा के दर्शन करा देने की उसकी क्षमता के बारे में सूचना करे । भीतर यह सूचना मिलने पर उपस्थित विद्वान् आश्चर्य करने लगे कि यह कौन व्यक्ति है जो ऐसा महान् कार्य कर लेगा जिसमें वे सब विफल रहे हैं ? महाराजा की स्वीकृति होने पर द्वारपाल उस साधक को लेकर भीतर आया । सबकी दृष्टि उस ओर मुड गई । उसे देखते ही सब विद्वान् व्यगपूर्वक जोर-जोर से हसने लगे । जब सब की हसी बन्द हुई तो वह साधक खिलखिला कर और ज्यादा जोर से हसने लगा । उसको इस तरह हंसते हुए देखकर सभी विद्वान् स्तब्ध रह गये और महाराजा की तरफ इस आशय से देखने लगे कि यह क्या मामला है ।

महाराजा ने उस आगन्तुक को पूछा कि उसके हसने का क्या कारण है ? उसने कहा—राजन् पहले इन्ही लोगो से पूछिये कि वे क्यों हसे । राजा ने उपस्थित विद्वानों को उनके हसने का कारण पूछा तो उत्तर मिला कि इस आगन्तुक के शरीर को देखकर मुंह में हसी आ गई कि जिसके शरीर का ठिकाना नही है, वह भला परमात्मा के दर्शन क्या करायगा । तब उस आगन्तुक ने अपने हसने का कारण बताया कि मैं तो यहा उपस्थित लोगों को विद्वान् समझता था लेकिन ये सब तो चमार निकले तो भला इनका परमात्म-दर्शन से क्या वास्ता? महाराजा आश्चर्यचकित रह गये कि ये सारे विद्वान् चमार कैसे हो गये । आगन्तुक ने बताया—राजन्, जिनकी दृष्टि चमड़े तक ही पहुचती है-आगे गहराई में नही उतर पाती, वे चमार नही तो और क्या होगे?

जो चमडा ही देख सकते हैं, वे परमात्मा को कैसे देखेंगे और कैसे दिखा पायेंगे ? यह एक साधक का उत्तर था जो शरीर को नही,बल्कि आत्मा को और परमात्मा को देखता था ।

कोई परमात्मा के दर्शन कब कर सकता है, जब वह परमात्मा के स्वरूप का ज्ञाता हो और उस स्वरूप का वरण करने की आन्तरिक तत्परता बना पाया हो । परमात्मा का स्वरूप कहां से जानेंगे ? वह स्वरूप तभी जान सकेंगे जब आप परमात्मा की स्तुति करेंगे और प्रार्थना करेगे कि हम भी परमात्मा के गुणों को प्राप्त करने हेतु तदनुकूल आत्मशुद्धि करें तथा विकास की सीढियो पर चढें । आप भी सोचिये कि जिनका आकर्षण सिर्फ पोशाक, साज-सज्जा और रूप अवलोकन तक ही सीमित है याने कि जिनकी दृष्टि इस नाशवान शरीर के घेरे से आगे की गहराई में नही उतरती है, क्या वे अन्तःकरण पूर्वक स्तुती और प्रार्थना भी कर पायेंगे ? अपनी इस क्षुद्रवृत्ति में सशोधन करेंगे तभी सच्चे मन से स्तुति और प्रार्थना कर पायेंगे और तभी आत्मा एव परमात्मा के दर्शन कर लेने का सामर्थ्य भी प्राप्त कर सकेंगे ।

रहस्य को रहस्य न रहने दें

श्री गौतम स्वामी का प्रश्न था कि सुबाहुकुमार का व्यक्तित्व इतना कमनीय और आकर्षक क्यो बना ? इस प्रश्न के पीछे गहरा रहस्य समाया हुआ था और जो जब तक इस शरीर मोह से बधा रहेगा-इस रहस्य को जान नही पाएगा । तो क्या आप लोग भी इस रहस्य को अब भी रहस्य ही रहने देगे या इस रहस्य को उद्‌घाटित कर लेने का सुप्रयास करना चाहेगे ? आत्मा के अनादिकालीन भटकाव मे यह रहस्य अब तक भी रहस्य ही बना हुआ है किन्तु इस विवेक सम्पन्न जीवन मे तो यह रहस्य अब रहस्य नही रह जाना चाहिये । यह रहस्य इस चमडी तक ही भटकने से नही खुलेगा । इसे सुलझाने के लिये स्तुति और प्रार्थना के माध्यम से निजात्मा मे प्रवेश करना होगा और यह समझना होगा कि शरीर की जड़ता मे रहते हुए जीवन विकास नही साधा जा सकता है । उसके लिये शरीर मोह को छोड़कर अपने ही आत्मस्वरूप को पहिचानना और सुधारना होगा । भावो

की सुन्दरता से चमड़ी की सुन्दरता मिल सकती है लेकिन चमड़ी की सुन्दरता में फंस जावे तो उससे भावो की सुन्दरता विद्रूप बन जाती है। इसलिये भावो की सुन्दरता को ही प्राथमिकता और प्रधानता देनी होगी।

इतने दिव्य देह रूप की प्राप्ति के बाद भी सुबाहुकुमार के उन्नत भाव वीतराग प्रभु के चरणों में विनत क्यों हो गये ? वे भली भाति जानते थे कि यह भौतिक वैभव कितना ही क्यों न मिल जाय-इससे आत्मा की शांति नही मिल सकती है। यह भौतिक वैभव तो पानी के बुलबुले के समान हैं। एक आध्यात्मिक पुरुष के सामने भौतिकता के वैभवशाली का जीवन बौने के समान ही रहेगा। यही कारण है कि बड़े-बडे चक्रवर्ती राजाओ ने भी आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति के लिये अपने अपार वैभव का भी त्याग कर दिया। उन्होंने भी मुनि जीवन को अंगीकार किया ताकि आत्मा के अभिमुख होकर आध्यात्मिकता का समग्र विकास साध सके।

ऐसे ही महापुरुषों की स्तुति होती है

भौतिक वैभव और शरीर मोह को त्यागकर जो आत्मविकास के साधना-पथ पर चल पड़ते हैं तथा अपनी आत्मा को पूर्ण रीति से निर्मल बना लेते हैं—उन्ही महापुरुषों की स्तुति की जाती है और प्रार्थना की जाती है कि वैसे ही सद्गुण हमें भी प्राप्त हो, वैसी ही निष्ठा हम भी धारण करे और वैसा ही विकास हम भी साधें।

हमारा प्रश्न था कि इतना वैभव पाकर भी सुबाहुकुमार भगवान् के चरणो में क्यो आए ? इसका यही कारण था कि उनकी जो बाहर की कमनीयता तथा सुन्दरता थी वहा आतरिक शुद्धता की प्रतीक थी। जब भीतर में प्रकाश होता है तो वह बाहर में भी समग्र तत्त्वो को प्रकाशित करता है। वीतराग देव के वचन हैं कि उवन्ने वा, विगये वा धुवे वा और वस्तु स्वरूप को समझने के लिये इससे बढकर कोई शाश्वत सूत्र नही है। उत्पन्न होने और विनष्ट होने के बावजूद यह आत्मा ध्रुव है-शाश्वत है-अमर है। उत्पन्न और नष्ट तो शरीर होता है जो पर्याय रूप है। आत्मा द्रव्य है। शरीर से अलग हटकर आत्मा

के स्वरूप पर चिन्तन किया जायगा, तभी आंतरिक प्रकाश का महत्त्व भी समझ में आवेगा और उसे प्रकट कर लेने का पुरुषार्थ भी जागृत होगा ।

ऐसे पुरुषार्थ को जगाने का ही भावना पूर्ण माध्यम है स्तुति और प्रार्थना । स्तुति करते-करते ही साधक स्वय स्तुत्य बन सकता है- यही स्तुति की विशिष्ट महिमा है क्योंकि प्रार्थना का लक्ष्य अपनी ही आत्मा रूप लक्षी की तरफ रहता है और जो आत्मोन्मुखी बन जाता है उसका जीवन भी आध्यात्मिकता के साचे में ढल जाता है । वैसे आध्यात्मिक जीवन के साथ भौतिक वैभव भी सहज ही में मिल जाता है लेकिन वह उसकी दृष्टि में नगण्य ही रहता है । आत्मशुद्धि से प्राप्त होने वाला जो अलौकिक आनन्द है उसके सामने यह भौतिक पदार्थों का सुख बल्कि सुखाभास क्या मूल्य और महत्त्व रखता है ? आत्मिक आनन्द का रसास्वादन करने वाला साधक और पुरुष तो एक दिन अपनी साधना की उच्चता के साथ स्वय महापुरुष और स्तुत्य बन जाता है ।

दि. ४-८-१९८६



स्वरूप-स्मृति

श्री श्रेयास जिन अन्तर्यामी…… …

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परम स्वरूप को प्राप्त परमानन्द मे तल्लीन परमात्मात्मा को स्मृति-पटल पर उभारते हुए उनके वचनो का-उनके उपदेशो का कुछ चिन्तन करना है। सर्वज्ञ और सर्वदर्शी का ही चिंतन क्यो करना और अन्य पुरुषो की वाणी का चिन्तन क्यो नही करना-यह प्रश्न सभी मनुष्यो के मस्तिष्क मे उत्पन्न हो सकता है। देखना यह है कि किन पुरुषो की वाणी मे परिपूर्ण सत्य और ज्ञान रहा हुआ है तथा किस वाणी में आंतरिक जीवन के स्रोत को प्रस्फुटित कर लेने की कला समाई हुई है।

सत्य का एक अश भी आदरणीय होता है किन्तु उसका अनुपालन सम्पूर्ण दोषो से मुक्त नही होता। जो सत्य का पूर्ण स्वरूप प्रकट कर लेते हैं, उसे स्वय देख लेते हैं और उसकी स्पष्ट अनुभूति लेकर सम्पूर्ण जगत् के कल्याण के लिये उसे उपदेशो में ढाल लेते हैं-उन्ही की वाणी आचरणीय होती है। वैसे दिव्य पुरुषो के सर्वोन्नत स्वरूप की स्मृति ही इस आत्मा के लिये लाभप्रद हो सकती है। कारण उस स्वरूप की स्मृति से निजात्मा के मूल स्वरूप की स्मृति सरल बन जाती है।

ज्ञान-दर्शन की अपूर्णता उस व्यक्ति को उपदेश देने के योग्य भी नही बनाती है, क्योकि उसने पूर्ण सत्य का न तो दर्शन किया है और न ही उसकी अनुभूति ली है। इसलिये अपूर्ण व्यक्ति परिपूर्णता का मौलिक उपदेश देकर जन समुदाय को कल्याण की परिपूर्ण अवस्था का निर्वचन नही कर सकते हैं। हा, वे यदि परिपूर्ण पुरुषो का उप-देश सन्मुख रखकर पूर्ण पुरुषो द्वारा उपदेशित तत्त्वो का विश्लेषण करते हैं तो वैसे प्रवचन भव्य प्राणियो के लिये उपादेय होते हैं। किंतु स्वय की मति-कल्पना से जो प्रवचन दिये जाते हैं, वे परिपूर्ण नही कहलाते हैं।

पूर्ण स्वरूप के ज्ञान की विधि

सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी तीर्थंकर देवो ने किसी भी वस्तु स्वरूप को समझने के लिये एक विधि बताई है कि सच्चे स्वरूप की पहिचान कैसे की जाय। कौनसी वस्तु उस रूप में कितनी कमी लेकर चल रही है—इसकी पहिचान उस विधि से ही हो सकती है। एक स्वर्णकार निश्चित विधि से ही स्वर्ण का परीक्षण करता है कि वह कितना खरा है या कि उसमे कितनी खोट है। उसके पास परीक्षण की तीन विधियां होती हैं। पहले वह सोने को कसोटी पर कसता है। अगर वह सोना कसौटी पर खरा नही उतरता है तो उसकी आगे की विधि से जाच की जाती है। तब वह सोने को अग्नि मे तपाता है। तपाने पर जब सोने के परमाणु स्कध ढीले हो जाते हैं तो उसके भीतर का रहस्य बाहर प्रकट होता है। उससे सोने के खरेपन का तथ्य स्पष्ट होता है। यदि सोने को तपा लेने के बाद मे भी उसके खरेपन की पूरी जाच नही हो पाती है तब वह स्वर्णकार उस सोने का छेदन-गलन करता है। जांच के इस तीसरे चरण मे सोने का कोई भेद छिपा नही रह सकता है। उसके असली-नकलीपन की पक्की पहिचान हो जाती है।

सोना तो एक वस्तु है। वैसे ही तीर्थङ्कर देवो ने सारे विश्व मे रहने वाले समग्र तत्त्वो का नौ-तत्त्वो के रूप मे वर्गीकरण कर दिया है। ये नौ तत्त्व है—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष। इन नौ तत्त्वो का सक्षिप्तीकरण किया जाय तो इन्हे दो तत्त्वो मे समाविष्ट कर सकते हैं। ये दो तत्त्व होते हैं—जीव और

अजीव याने चेतन और जड़। इन्हे आत्मा और पुद्गल के नाम से भी पुकार सकते हैं। इन दो परिभाषाओ की संज्ञा समग्र विश्व के तत्त्वो को सक्षेप में लेने के लिये की गई है। शेष भेद इन दो तत्त्वों को पर्याय रूप में लिये जा सकते है। इन दो तत्त्वों का कथन भी अन्य स्थलो पर होता रहता है।

वस्तुत. इन दो तत्त्वो के संयोग से ही सम्पूर्ण विश्व की सरचना है। एक आत्मा ससार में इसी कारण परिभ्रमण करती है कि वह जड़ के साथ सयुक्त बनी रहती है अतः आत्मा का मोक्ष भी यही है कि वह जड़ के साथ अपने बधन को तोड़ ले और अपने मूल स्वरूप में अवस्थित हो जावे। इस दृष्टि से आत्मा के लिये सिद्ध स्वरूप के प्रकाश मे अपने मूल स्वरूप की स्मृति करणीय होती है तथा उसकी बंधन मुक्ति का पुरुषार्थ आचरणीय।

स्वरूप स्मृति का मूलाधार

अनादिकाल से चेतन और जड़ का सम्बन्ध बना हुआ है। यह जड़ मुख्य रूप से कर्म होता है जिसका बध ही इस आत्मा का बधन है। इस कर्म के फलाफल मे ही अन्य जड़ पदार्थों का आत्मा के साथ सयोग और वियोग होता है। चूंकि जीव सदा क्रियाशील रहता है, वह सदा मन, वचन व काया के योग व्यापार में प्रवृत्त रहता है। इससे उसके प्रत्येक समय में तदनुसार कर्मों का बध होता रहता है। पुराने कर्म भुगतान से क्षय होते रहते हैं और योग व्यापार से नये कर्म बधते रहते हैं। ऐसा होते हुए भी सामान्य रूप से तो कर्म (जड़) सदा से जीव के साथ लगे हुए ही रहे है। देह कर्म से मिलता है और दूसरे पदार्थ भी कर्म से मिलते हैं तथा देह व दूसरे पदार्थों के व्यवहार से कर्म बधते हैं। तो चेतन और जड का संयोग ही ससार का हेतु होता है।

जीव वह जिसे सुख दुःख का ज्ञान होता है तथा उसका उपयोग मूल लक्षण है। इसके विपरीत अजीव या कि जड़ पदार्थो को न तो सुख दु.ख का ज्ञान होता है और न ही उनका उपयोग होता है।

जीव तत्त्व के ५६३ भेद माने गये हैं जो इस प्रकार हैं—नारकी के १४, तिर्यंच के ४८, मनुष्य के ३०३ तथा देवता के १९८।

यों इन दस भेदों में सभी प्रकार के जीवो का समावेश हो जाता है—(१) पृथ्वीकाय (२) अपकाय (३) तेउकाय (४) वायुकाय (५) वनस्पति काय (६) द्वीन्द्रि (७) त्रीन्द्रिय (८) चतुरिन्द्रिय (९) पचेन्द्रिय तथा (१०) अनिन्द्रिय याने कि सिद्धात्माए । वैसे जीव की दो मुख्य राशियां मानी गई हैं—(१) ससारी व (२) सिद्ध । कर्मों के चक्र में फसे हुए जो जीव चार गतियो में परिभ्रमण करते रहते है, वे ससारी जीव हैं तथा जो सर्व कर्मो का क्षय करके जन्म मरण रूप ससार से मुक्त हो चुके हैं वे होते हैं सिद्ध । ससारी जीव के दो-दो प्रकार से नव भेद अन्यथा भी किये गये हैं—

१.	या तो वह	त्रस	होगा	या	स्थावर
२.	,,	सूक्ष्म	,,	,,	बादर
३.	,,	पर्याप्त	,,	,,	अपर्याप्त
४.	,,	संज्ञी	,,	,,	असज्ञी
५.	,,	अल्प संसारी	,,	,,	अनन्त ससारी
६.	,,	सुलभ बोधि	,,	,,	दुर्लभ बोधि
६.	,,	शुक्लपक्षी	,,	,,	कृष्णपक्षी
८.	,,	भवसिद्धिक	,,	,,	अभव सिद्धिक
९.	,,	अनाहरक	,,	,,	आहारक

ये भेद गुणात्मक हैं । गुण की दृष्टि से ही ससारी जीव के तीन भेद भी हैं—१. सयत, २. असयत व ३. संयतासयत ।

प्रकारान्तर से संसारी जीवों के चार भेद—१. प्राण-विकलेन्द्रिय, २. भूत-वनस्पतिकाय, ३. जीव-पचेन्द्रिय व ४. सत्त्व-चार स्थावर काय भी बताये गये हैं तो छ भेद भी—१. प्राण, २. भूत, ३. जीव, ४ सत्त्व, ५. विज्ञ एव ६ वेद ।

अजीव के मुख्य दो भेद हैं—रूपी और अरूपी—दृश्यमान और अदृश्य । अरूपी अजीव के धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय मे प्रत्येक के स्कध, देश और प्रदेश की अपेक्षा से तीन-तीन भेद और काल द्रव्य—यो दस भेद हुए । चारों द्रव्यो के द्रव्य, क्षेत्र, काल,

भाव और गुण की दृष्टि से ५-५ भेद तो इस तरह वीस भेद हुए और कुल ३० भेद हुए।

रूपी अजीव के ५३० भेद बताये गये हैं—परिमंडल, वर्त, त्र्यस्त चतुरस्त्र और आयत—इन पांच सस्थानों के पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस और आठ स्पर्श की अपेक्षा से प्रत्येक के वीस-वीस भेद होने से कुल १०० भेद हुए। फिर उपरोक्त प्रकार से काला, नीला, पीला, लाल और सफेद पांच वर्णों के भी १०० भेद होते हैं। गध में सुगध व दुर्गन्ध के तेवीस-तेवीस भेद से ४६ भेद हुए। स्पर्श के खुरदरा, कोमल, हल्का, भारी, शीत, ऊष्ण, स्निग्ध और रुक्ष प्रत्येक के पांच सस्थान, पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और छ. स्पर्श की अपेक्षा से तेवीस और आठ से गुणीत होकर १८४ भेद हुए। तिक्त, कटु, कषाय खट्टा और मीठा इन पांच रसों के भी १०० भेद। इस तरह ३०+५३० कुल ५६० भेद हुए।

अजीव अर्थात् जीव रहित वस्तुओ के परिवर्तन से होने वाली उनकी विविध अवस्थाओ को अजीव परिणाम कहा जाता है जो दस प्रकार के कहे गये हैं—१. वंधन परिणाम-परस्पर मिलने से स्निग्ध हेतुक अथवा रुक्षत्व हेतुक रूप में। २. गति परिणाम—स्पृशद् और अस्पृशद् गति रूप में। ३. संस्थान परिणाम-आकार विशेप में परिणति के रूप मे। ४. भेद परिणाम—खड, प्रतर आदि भेदों के रूप में। ५. वर्ण परिणाम—पाचों वर्णो के रूप में। ६. गंध परिणाम—दोनो प्रकार की गध के रूप में। ७ रस परिणाम-पांच प्रकार के रसों के रूप में। ८ स्पर्श परिणाम-आठ प्रकार के स्पर्श के रूप में। ९. अगुरु लघु परिणाम न अधिक हल्के और न अधिक भारी रूप में। १०. शब्द परिणाम—शब्द के रूप में पुद्‌गलो का परिणत होना।

जीव और अजीव का यह तत्त्व-विश्लेषण इस दृष्टि से है कि सूक्ष्म रूप से जीव और अजीव का सयोग किस प्रकार से इस विश्व की समग्र रचनाओ को बनाता, बदलता और नित नई पर्यायो मे ढालता रहता है। इस विश्लेषण से स्वरूप स्मृति होती है कि चेतन का मूल स्वरूप क्या और किस प्रकार चेतन अपने जडगत बधन से सर्वथा मुक्त हो जावे तो अपने मूल स्वरूप को सदा-सदा के लिये प्राप्त कर

लेता है । अतः इस विश्लेषण को स्वरूप स्मृति का मूलाधार कहा जाना चाहिये ।

अपूर्णता से पूर्णता की ओर

जैन दर्शन ने जिन तत्त्वों को जीव और अजीव के रूप में प्रतिपादित किया है; वैसे ही वेदान्त मे इन्हे ब्रह्म और माया कहा गया है । शाक्य दर्शन ने इन्हे ही पुरुष और प्रकृति कहा है । आज के वैज्ञानिक इन्हें पोजिटिव व निगेटिव से जानते हैं लेकिन इन दो अवस्थाओं तक पहुंच कर उनकी शोध का एक प्रकार से स्थिरीकरण सा हो गया है । यह इस दृष्टि से कि वे चेतन तत्त्व की शोध में गहरे नही उतर पा रहे हैं । यह अपूर्णता की उलझन है ।

अपूर्ण व्यक्ति पूर्णता कैसे प्राप्त कर सकता है—इसे स्पष्ट रूप से समझने के लिये ही जिनेश्वर देवों ने जीव और अजीव रूप में इन दो तत्त्वों का निरूपण किया है । इन दोनो तत्त्वो का सत्य स्व-रूप समझने के लिये उन्होने कसौटी भी बताई है । यह कसौटी चार प्रकार की है कि जिनके माध्यम से स्वरूप की यथार्थता [समझ में आ सके ।

यह कसौटी निक्षेप के रूप में बताई गई है, जिसके चार भेद हैं—१ नाम निक्षेप लोक व्यवहार चलाने के लिये किसी दूसरे गुण आदि निमित्त की अपेक्षा न रखकर किसी पदार्थ की कोई संज्ञा रखना नाम निक्षेप । जैसे किसी बालक का नाम मात्र रख दिया—महावीर । २. स्थापना निक्षेप-प्रतिपाद्य वस्तु के समान अथवा असमान आकार वाली वस्तु में प्रतिपाद्य वस्तु की स्थापना करना स्थापना निक्षेप है । जैसे शतरज के मोहरों को हाथी घोडा आदि कहना । ३ द्रव्य निक्षेप-किसी पदार्थ की भूत और भविष्यकालीन पर्याय के नाम का वर्तमान काल में व्यवहार करना द्रव्य निक्षेप है । जैसे राजा के मृतक शरीर में 'यह राजा है' इस प्रकार भूतकालीन पर्याय का व्यवहार करना । ४. भाव निक्षेप–पर्याय के अनुसार वस्तु में शब्द का प्रयोग करना भाव निक्षेप है । जैसे राज्य करते हुए मनुष्य को राजा कहना ।

इन निक्षेपो के अन्तर्पट मे और भी कई बाते बताई गई है लेकिन इन चार बातो को ध्यान मे रखकर चलने वाला पुरुप किसी

भी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझ लेता है। जैसे एक मोम का पुतला बना कर उसका नाम मनुष्य कह दिया तो क्या वह जानकारी पूर्ण कहलायगी या अधूरी ? सिर्फ नाम से ही वस्तु की पहिचान नहीं हो सकती है। नाम के साथ आकार भी आना चाहिये तो उस मोम के पुतले में नाम के साथ आकार भी है, फिर भी उसके साथ मनुष्य की तरह व्यवहार नहीं किया जा सकता है। क्योकि द्रव्य रूप से मनुष्य का शरीर उस पुतले का नही है। तो समझें कि एक मुर्दा मनुष्य शरीर है, क्या उसके साथ मनुष्य की तरह व्यवहार किया जा सकता है ? तब भी नही, क्योंकि भाव निक्षेप का उसमें भी अभाव है। इसलिये मनुष्य के नाग मे जीवित मनुष्य ही यथार्थ में मनुष्य माना जायगा जिसमें नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव-इन चारों निक्षेपो का सद्भाव है। वह नाम से मनुष्य है, आकार से मनुष्य है, द्रव्य से मनुष्य है और भाव मे मनुष्य है, इसी कारण वह मनुष्य के समान चलता-फिरता, बोलता और व्यवहार करता है। ऐसे मनुष्य को देख-कर ही मनुष्य नाम से कथित तत्त्व की पूर्ण जानकारी हो जाती है।

वीतराग देवों ने यह कसौटी दी है, जिसकी सहायता से तत्त्व का सम्यक् परीक्षण किया जा सकता है और ऐसा सम्यक् परीक्षण ही अपूर्णता से पूर्णता की ओर ले जाने में सक्षम होता है।

स्वरूप स्मृति से स्वरूप शोध

यही सत्य उमास्वातिजी ने अपने तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय में प्रस्तुत किया है कि नाम स्थापना द्रव्य भाव तस्तन्यास। ये ही भाव कवि आनन्दघनजी ने भी स्पष्ट किये हैं। जब आध्यात्मिकता के क्षेत्र में रमण किया जाता है, तब स्वरूप स्मृति से स्वरूप शोध की ओर गति होती है। आत्मा परमात्मा सम्बन्धी स्वरूप को तब अपनी ही आत्मा की आन्तरिकता में शोधना होता है। यह शोध ही आत्मा में सत्पुरुषार्थ उत्पन्न करती है कि वह अपने निज स्वरूप को प्रकट करे।

यहा अध्यात्म की परिभाषा को सक्षेप मे समझ लें। अध्या-त्म शब्द की व्युत्पत्ति होती है-आत्वनि अधि इति अध्यात्म। जो आत्मा में प्रवेश करता है वह आध्यात्मिकता पुरुष होता है। वह पुरुष आत्मा

की जो चर्चा करता है, वह वास्तव में आत्मा की चर्चा होती है। इसी प्रकार धर्म की चर्चा वास्तविक रूप से अध्यात्म की चर्चा होती है। आत्मा, धर्म, अध्यात्म आदि इन सबकी सच्ची पहिचान के लिये भी निक्षेप-विधि काम मे ली जा सकती है। यही नही, निक्षेप विधि से किसी भी पदार्थ या तत्त्व का स्वरूप यथार्थ रीति से जाना व पहिचाना जा सकता है। जिस मनुष्य में नाम की दृष्टि से, द्रव्य और भाव की दृष्टि से अध्यात्म वृत्ति होगी, उसे ही आध्यात्मिक पुरुष कहा जा सकेगा। ऐसा पुरुष मुनि कहलाता है। मुनि के विषय में शास्त्रकारो ने कहा है—पुढ़वीसमो मुणि हवेज्जा। मुनि पृथ्वी के समान होता है। इसका क्या तात्पर्य? यह कि पृथ्वी को नमस्कार करें तो उसकी खुशी नही दिखाई देगी या कि उसके ठोकर मारें तो उसकी नाराजी भी नही दिखाई देगी। ऐसी स्वभाव-समता होती है पृथ्वी मे चारो निक्षेपो के अनुसार तो ऐसा ही स्वभाव होना चाहिये मुनि का तभी यथार्थ अर्थ में उसे मुनि कहेगे। वही आध्यात्मिक पुरुष होगा। स्वरूप शोध की दिशा मे उसी के कदम आगे बढ़ रहे होगे।

एक स्वरूप-शोधी यह समझ कर चलता है कि ससार के सभी व्यक्ति मेरे भ्रातृ तुल्य हैं। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—सव्व भूयस्स भूयस्स समभूयाई पासवो। सभी प्राणी आत्मा के तुल्य है—सबको समान रूप से देखो। कोई प्राणी नही चाहता कि कोई अन्य प्राणी उसका तिरस्कार करे। अत. जब भी तुम किसी अन्य प्राणी का तिरस्कार या अपमान करने की तरफ प्रवृत्ति कर रहे होवो, उस समय में पहले यह सोचो कि वैसा तिरस्कार या अपमान तुम्हे कैसा लगेगा? यदि ऐसा सोच लेते हो तो तुम वह तिरस्कार या अपमान नही करोगे। क्योकि अपने ही आत्मानुभव के प्रतिकूल कोई भी क्रिया तुम्हे समुचित प्रतीत नही होगी। यही लक्षण है कि तुमने अपनी आत्मा के भीतर प्रवेश किया है तथा तुम स्वरूप-शोध मे लगे हुए हो।

निक्षेप विधि से भ्रम मिटावें

आपको 'अध्यात्म' नाम के भ्रम मे नहीं पडना चाहिये वल्कि निक्षेप विधि से कसौटी करके अध्यात्म के वास्तविक भाव को देखना चाहिये। भ्रम मिटाने की और सच्ची पहिचान पाने की यह अनुपम

विधि है । कल्पना करे कि किसी ने एक बच्चे का नाम महावीर रख दिया, दूसरे ने राम और तीसरे ने कृष्ण नाम रख दिया । तीनों बच्चे एक साथ जा रहे हैं । उस समय उनके अभिभावक या अन्य उन्हे उन्ही नामो से पुकारेगे या नही ? और पुकारेगे तो वे चले आयेंगे या नही? उस समय पड़ोस के एक भाई के कान पर 'महावीर' शब्द गया, तो उस शब्द ने उसे महावीर की याद दिलाई । इसी प्रकार राम और कृष्ण शब्द सुनकर भी राम और कृष्ण की याद आई । इतना मात्र सुन लेने से क्या वह पड़ोस का भाई बाहर निकल कर उन बच्चो को नमस्कार करेगा ? नही करेगा । कारण, नाम निक्षेप वहा जरूर है पर स्थापना निक्षेप नही और द्रव्य व भाव निक्षेप भी नही ।

एक पुरुष ने साधु की पोशाक पहिन ली और वह कहता है कि मैं महावीर हू-महावीर भी साधु थे और मैं भी साधु बनकर आया हू । तो इसमें नाम निक्षेप भी है तथा स्थापना निक्षेप भी है । वह कहता है कि मेरे शरीर में महावीर की तरह हाड़-मास रक्त है तो समझिये कि द्रव्य निक्षेप भी हो गया किन्तु भाव निक्षेप का अभाव रहेगा । भगवान् महावीर ने केवलज्ञान प्राप्त करके चार तीर्थों की स्थापना की । वे चौतीस अतिशयो से युक्त थे । सारे विश्व के शात पुद्गल उनमें समा गये थे । वे वज्रऋषभ नाराच सहनन वाले थे । केवलज्ञान युक्त होकर देशना देते थे । इस प्रकार चारो निक्षेपो से युक्त भगवान् महावीर का भी जब निर्वाण हुआ तो उनके मृत शरीर मे भाव निक्षेप के सिवाय अन्य तीनो निक्षेय तो विद्यमान थे । फिर भी देवो ने उनका दाह सस्कार कर दिया ।

तो चार निक्षेपो की इस कसौटी को बराबर समझ लीजिये ताकि आप किसी भी भ्रम मे न पड़े । नाम का साधु लेकिन काम गृहस्थो का करता है तो क्या उसको वन्दन करोगे ? क्या बहुरूपिये को आप वन्दन करते हैं ? लेकिन साधु के शरीर मे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के महाव्रत विद्यमान हैं तो उसमे चारो निक्षेपो का सद्भाव है । वह निक्षेप विधि से खरा उतरता है तो समझिये कि वह सच्चा साधु है ।

स्वरूप शोध से स्वरूप बोध

स्वरूप-शोधक के सम्बन्ध में भी जब निक्षेप विधि से उसकी यथार्थता प्रकट होती है तब समझना चाहिये कि वह स्वरूप-शोध से स्वरूप-बोध की दिशा में आगे बढ रहा है।

साधु जीवन की सयम साधना मे यही। दिशा स्पष्ट दिखाई देनी चाहिये। इस आध्यात्मिक साधना मे धर्माराधना के साथ प्रभु महावीर ने आहार की बात भी रखी है कि-आहारमिच्छे मियमेसणिज्ज अर्थात् एक आध्यात्मिक साधक का भोजन कैसा हो ? इस पर प्रश्न उठ सकता है कि क्या खाने से भी धर्म होता है-पुण्य होता है ? जैसे आप लोग खाना खाते है--नुवाला हाथ में लेकर मुह में रखते हैं साधु भी वैसे ही खाता है। प्रभु महावीर भी इसी प्रकार खाते थे। किंतु इस क्रिया-समानता के बावजूद भी आचरण का बड़ा अन्तर होता है। साधु उसी तरह खाता, उठता-बैठता और सोता है, लेकिन क्या आप के खाने, उठने, बैठने और सोने में वैसा उपयोग हो सकता है ? स्वरूप शोध से ज्यो-२ स्वरूप-बोध होता जाता है, त्यो-२ बाह्य क्रियाओ में समानता के बावजूद भीतर के भावों की उत्कृष्टता बढती जाती है।

यह भीतर के भावो की उत्कृष्टता ही आत्मा को परमात्म-स्वरूप की दिशा मे प्रगति कराती है। यही आध्यात्मिक क्षेत्र की विशेषता है कि इसमे किसी भी सांसारिक भेदभाव का चलन नही रहता है। आत्मीयता का भाव ही प्रधान होता है। जाति, पार्टी, वर्ग, क्षेत्र आदि का इस क्षेत्र में कोई महत्त्व नही होता। इन समस्त भेदभावो का त्याग करके ही आध्यात्मिक साधना साध सकते हैं। इस साधना की सम्पूर्ण सम्पन्नता में ही आत्मा का सर्वोच्च विकास समाया हुआ रहता है जब यही आत्मा परमात्म स्वरूप का वरण कर लेती है।

भीतर के भावो की उत्कृष्टता को बढाते रहना ही इस दृष्टि से एक आध्यात्मिक साधक का प्रमुख कर्म होता है। खाने की क्रिया हो या अन्य कोई क्रिया—एक साधक और सामान्य व्यक्ति में बाहर से समान दिखाई देती है लेकिन भीतर की भाव श्रेणियो के अनुसार एक के लिये धर्म का कारण होती है तो दूसरे के लिये पाप का कारण। स्वय क्रिया की आन्तरिकता में भी बड़ा भेद

होता है। एक आध्यात्मिक साधक खाने से पहिले अन्तराव-लोकन करेगा और निस्पृह होकर ऐसा मिताहार करेगा जितने की उसकी साधना को अपेक्षा है। दूसरी ओर एक सामान्य व्यक्ति भोजन के स्वाद मे आसक्त बनकर उसे लोलुपता से खायगा तो समझिये कि दोनो की खाने की क्रिया मे भी कितना अधिक अन्तर है ?

यही अन्तर एक दूसरे के साथ किये जाने वाले व्यवहार मे भी दिखाई देगा। एक साधक मिष्ट भाषा बोलेगा और बोलने से किसी प्रकार किसी का दिल दु:ख भी गया हो तो उससे तुरन्त क्षमा याचना कर लेगा। लेकिन एक सामान्य पुरुष आवश्यक सद्विवेक के अभाव मे वैसा नही कर पायगा। सन्तो के लिये भाषा के आठ दोष बतलाये हैं कि वे कठोरकारी, कर्कशकारी, हिंसाकारी, निश्चयकारी, छेदकारी, भेदकारी, पापकारी और पीड़ाकारी भी न बोलें। स्वरूप-बोध की अवस्था मे एक-एक क्रिया में सद्विवेक और उपयोग की अपेक्षा रहती है।

निज स्वरूप का सदा स्मरण करें

अत. मौलिक तथ्य यह है कि प्रत्येक विवेकशील पुरुष निज-स्वरूप का सदा स्मरण करता रहे। पूर्ण स्वरूप को समक्ष रखकर अपनी आत्मा पर लगा कर्मों का कालिख धुल रहा है या नही ? यह सावधानी सतत स्वरूप-स्मृति से ही रह सकती है। प्रारभिक दृष्टि से यह सावधानी ही सतर्कता को ग्रहण करते हुए स्वरूप शोध तथा स्व-रूप बोध के प्रगति चिह्नो की ओर आगे बढाती है।

दि. ५-८-१९८६



आहार विधि

श्री श्रेयांस जिन अन्तर्यामी.... ...

तीर्थंकर देवो का जीवन वर्णन अनिवर्चनीय होता है। उनकी परिपूर्ण पवित्रता मे कितनी भी तीव्र बुद्धि से खोजें तब भी बाल के अग्रभाग के अनन्तवें हिस्से जितना दोष भी नही मिलेगा। विचारणीय है कि ऐसे पवित्र पुरुषो के उपदेश कितने पावन और कितने पावन-कारी होते हैं।

अगर पानी की टकी स्वच्छ जल से भरी हुई हो तो बड़े या छोटे नलो से आने वाला उसका जल भी उतना ही स्वच्छ होगा। यह तो एक रूपक है। मानव जाति मे रहने वाली आत्मा का हृदय रूप आन्तरिक स्वरूप ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य से लबालब भरा हुआ होता है—सिर्फ उस टकी को पहिचानने और खोलने की जरूरत है। फिर आत्म शुद्धि की उस टकी से मन का नल होगा या वाणी अथवा कर्म का नल सबके द्वारा शुद्धता का प्रवाह ही बाहर प्रकट होगा।

अमृत कलश का रसपान कराने वाला दयालु पुरुष अपने शुद्ध हृदय से देता है और लेने वाला शुद्ध हृदय से ग्रहण करता है तो वह

अमृत श्रेयकारी बन जाता है। तीर्थंकर देवों ने भव्य जीवों पर अपा करुणा करके जो उपदेश दिये है, वे अमृत तुल्य है। उन्हे जो भी अपनाकर अपने जीवन में उतारता है, वह भी अमृत तुल्य बन जाता है।

आहार समाधि हेतु

इन्हीं उपदेशो में प्रभु महावीर का एक उपदेश है कि य अपने जीवन में परम सुख और परम शाति पाना चाहते हो और चाह हो कि योग साधना मे स्थायी समाधि रहे तो अपने आहार को इसक हेतु बनाओ। उत्तराध्ययन सूत्र के ३२वें अध्ययन में कहा गया है— आहारमिच्छे मियमेसमिज्जम्। आहार करते हो उसका लक्ष्य स्थायी समाधि होना चाहिये उसी तरह जिस प्रकार तपस्या करके स्थायी समाधि प्राप्त करना चाहते हो। कारण, चरम साध्य परम सुख और परम शाति प्राप्त करने का है।

शास्त्रकारों ने साधुओ के लिये भोजन ग्रहण करने के भी छ कारण बताए हैं तो भोजन त्यागने के भी छ: कारण बताए हैं। जिस साधना के लिये वह भोजन करता है, वह क्रिया भी साधना की हेतु बनती है। कारण मे कार्य का उपचार कर दिया जाता है। आयुर्वेद मे कहा है कि घी ही प्राण है। ऊपर से देखने पर तो ऐसा नहीं लगता कि घी ही प्राण है लेकिन घी प्राण का कारण है और कारण को कार्य की उपमा देकर कह दिया जाता है। वैसे ही जहा साधना रने वाले साधु के लिये प्राण की आवश्यकता निमित्त है, किन्तु प्राण क दृष्टि से भाव प्राण रूप मे उसका उपादान कारण है। द्रव्य प्राणों रक्षा के लिये भोजन का उल्लेख है।

साधु द्वारा आहार ग्रहण करने के निम्न छ कारण कहे हैं—

(१) वेदना—क्षुधा वेदनीय की शांति के लिये।

(२) वैयावृत्य—अपने से वडे आचार्य आदि की सेवा करने के लिये।

(३) ईर्यापथ—मार्ग आदि की शुद्धि के लिये ।

(४) सयमार्थ—प्रेक्षा आदि रूप सयम की रक्षा के लिये ।

(५) प्राणप्रत्ययार्थ—अपने प्राणो की रक्षा के लिये ।

(६) धर्म चिन्तार्थ—शास्त्रो के पठन-पाठन आदि धर्म का चिन्तन करने के लिये ।

साधु को धर्म ध्यान, शास्त्राघ्यान और सयम की रक्षा के लिये ही आहार करना चाहिये । विशेष कारण के विना आहार करने वाला साधु ग्रासैषणा के अकारण दोष का भागी होता है ।

इसके विपरीत निम्नलिखित छ. कारण उपस्थित होने पर साधु आहार करना त्याग दे । तव शिष्य वगैरा को शासन का भार सम्हला कर सलेखना द्वारा शुद्ध होकर यावज्जीव आहार को छोड दे:—

(१) आतक—शारीरिक रूप से रोगग्रस्त हो जाने पर ।

(२) उपसर्ग—राजा, स्वजन, देव, तिर्यंच आदि द्वारा उपसर्ग उपस्थित होने पर ।

(३) ब्रह्मचर्य गुप्ति—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये ।

(४) प्राणिदयार्थ—प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों की रक्षा के लिये ।

(५) तपो हेतु—तप करने के लिये ।

(६) सलेखना—अन्तिम समय मे सथारा करने के लिये ।

भोजन कैसा हो ?

साधु के लिये भोजन कैसा हो ? प्रभु की आज्ञा है कि वह मित और ऐषणीय हो । मित का अर्थ है कि आवश्यकता के अनुपात मे हो । जिस शरीर से जैसी साधना करनी है, उस शरीर को उसकी आवश्यकता के अनुपात में खुराक दी जाय । क्योकि वैसी खुराक अगर उसको नही दी जायगी तो लम्वे समय तक साधना नही हो सकेगी ।

इसलिये शरीर को खुराक देना कारण रूप होने से कार्य के उपचार से भोजन भी धर्म का हेतु बनता है।

उपरोक्त कारणों के अनुसार आहार-ग्रहण जिस प्रकार धर्म हेतु होता है, उसी प्रकार समय आने पर अथवा तपाराधना के लिये आहार-त्याग भी धर्म का हेतु होता है। सथारे के रूप में आहार का सर्वथा त्याग भी समाधि का ही कारण बनता है।

साधु का आहार ऐषणीय भी होना चाहिये। ऐषणीय का अर्थ है कि गवेषणा करके भिक्षा लाई जाय जिसमें सोलह उद्गम के तथा सोलह उत्पादना के कुल ३२ दोष टाले जाय।

(अ) गवेषणा (उद्गम) के १६ दोष—(१) आधा कर्म-किसी खास साधु को मन में रखकर उसके निमित्त से सचित्त वस्तु को अचित्त बनाकर या अचित्त को पकाकर बनाया हुआ आहार। यह दोष प्रति-सेवन, प्रतिश्रवण, संवसन और अनुमोदन रूप चार प्रकार से लगता है। (२) औद्देशिक-सामान्य याचकों को देने की बुद्धि से तैयार किया गया आहार। (३) पूति कर्म-शुद्ध आहार में आधा कर्म आदि का अंश मिलाया हुआ आहार। (४) मिश्रजात-अपने और साधु के निमित्त से एक साथ पकाया हुआ आहार। (५) स्थापन-साधु को देने की इच्छा से कुछ काल के लिये अलग रखा हुआ आहार। (६) प्राभृतिका-साधु को विशिष्ट आहार बहराने के लिये जीमणवार या निमन्त्रण के समय को आगे पीछे करना। (७) प्रादूष्करण-देय वस्तु के अधेरे में होने पर उसे रोशनी करके या खिडकी खोलकर लाना। (८) क्रीत-साधु के लिये मोल लिया हुआ आहार। (९) प्रामित्य-साधु के लिये उधार लाया हुआ आहार। (१०) परिवर्तित-अट्टा-सट्टा करके लिये हुआ आहार। (११) अभिदृत-गृहस्थ द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाया हुआ आहार। (१२) उद्भिन्न-साधु को घी वगैरा देने के लिये कुप्पी वगैरा का मुंह खोलकर देना। (१३) मालापहृत-पजो पर खडे होकर या निसरणी आदि से उतार कर आहार देना। (१४) आच्छेद्य-निर्बल या आश्रित से छीनकर साधुओं को आहार देना। (१५) अनि-सृष्ट-एक से अधिक मालिक होने पर सबकी इच्छा के बिना देना।

(१६) अध्यवपूरक– साधुओ का आगमन सुनकर आधण मे अधिक ऊर देना ।

(ब) गवेपणा (उत्पादना) के १५ दोप—(१) धात्री-किसी को किसी घर मे धाय की नौकरी लगवा कर आहार लेना । (२) दूती-सन्देश आदि पहुचा कर दूत का काम करके आहार लेना । (३) निमित्त-भूत-भविष्य के शुभाशुभ निमित्त बता कर आहार लेना । (४) आजीव-अपनी जाति, कुल प्रकट करके आहार लेना ।(५)वनीपक-भक्त के सामने उसकी प्रशसा करके या दीनता दिखा करके आहार लेना । (६) चिकित्सा–औषधि बता कर या चिकित्सा करके आहार लेना । (७) क्रोध-क्रोध या शाप आदि से डरा कर आहार लेना । (८) मान-प्रभाव जमा कर आहार लेना । (९) माया-वचना करके आहार लेना (१०) लोभ-स्वाद या लालच वश आहार लेना । (११) प्राक-पश्चात्सस्तव-आहार लेने के पहिले या बाद में प्रशसा करना । (१२) विद्या-विद्या का प्रयोग करके आहार लेना । (१३) मत्र-मत्र के प्रयोग से आहार लेना । (१४) चूर्ण–अदृश्य करने वाले चूर्ण आदि के प्रयोग से आहार लेना । (१५) योग–लेप, सिद्धि आदि बताकर आहार लेना । (१६) मूल कर्म-सावद्य क्रियाए बताकर या करके आहार लेना ।

इस प्रकार गवेषणा (उत्पादना) के दोष साधु से लगते हैं जिनका निमित्त भा साधु ही होता है ।

भोजन के साथ भावना मुख्य

ऐसा भी हो सकता है कि भोजन की क्रिया करते हुए तो कर्म की निर्जरा हो और भोजन का त्याग करते हुए भी कर्मों का बध हो । इसलिये भोजन की क्रिया या अक्रिया के साथ भावना का मुख्य महत्त्व है । सथारा भी आत्म समाधि का एक अग है जिसमें आहार का त्याग कर लिया जाता है और साधना करना भी आत्म समाधि का ही एक अग है जिसमे आहार ग्रहण किया जाता है । यह उल्लेखनीय है कि कोई भोजन करते हुए भी कर्म की निर्जरा कैसे करता है और भोजन का त्याग करके भी कर्मों का बध कैसे करता है ।

किसी भी समय भोजन करने की तैयारी हो तो भोजन के लिये बैठने से पहिले अपनी चित्तवृत्तियो की शुद्धि कर लेनी चाहिये ।

सच पूछे तो मनुष्य की भावना मलिनता को लिये हुए कोई भी कार्य करना पसन्द नही करती है। जो सामान्य जन जानते है वह बाहर की मलिनता ही अधिकतर होती है लेकिन भीतर की मलिनता का ज्ञान कम रहता है। इसलिये भीतर की मलिनता का भी परिमार्जन करके भोजन करने हेतु बैठना चाहिये। वस्तुतः भीतर की मलिनता को दूर करने के प्रयास को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया जाना चाहिये। बाहर की अशुचि तो मात्र पुद्गलो का परिणाम होती है लेकिन भीतर की अशुचि तो वृत्तियो का विकार होती है। वैसी विकृत अवस्था में लिया गया भोजन लाभप्रद नही बनता है।

शास्त्र में वर्णन आया है कि औदारिक शरीर की आठ प्रकार की लब्धि होती है जिससे परमाणु और स्कधो का रूपान्तरण होता रहता है। दिल्ली मे चादनी चौक मे गुरुदेव सकारण विराज रहे थे। कारण असाध्य बीमारी का था। आचार्य देव बाहर नही पधार सकते थे। शास्त्र मे विधि बताई गई है कि जिस साधु का बाहर जाना शक्य नहीं हो तो उसका अशौच लैटरीन या फ्लश में नही डालकर भाजन (पात्र) मे क्रिया करवा दूसरा सन्त उसे बाहर प्रासुक स्थान में परठ दे। मैं स्वय बाहर जाकर निवृत्त होता था और उस पात्र को साथ मे ले जाता था। लाल किले के पीछे अशुचि का ढेर पड़ा रहता था। उस ढेर को मालियो ने फैला दिया और उस पर मक्की बो दी। देखते-देखते वहां पैदा हुए भुट्टे बाजार में बिकने लगे। मैंने यह तथ्य आचार्य देव से निवेदन किया। उन्होने फरमाया कि यह परमाणु स्कधो का रूपांतरण है। बाहर की अशुचि तो यो रूप बदल लेती है लेकिन भीतर की अशुचि की ओर ध्यान जाना तथा उसे शुद्ध करना अतीव आवश्यक है। भीतरी शुद्धि के साथ जो भोजन ग्रहण किया जाता है, वह साधना मे सहायक होता है।

भोजन ग्रहण, पर भाव समता के साथ

बाह्य वातावरण में जो अशुद्धि प्रकट होती हुई दिखाई देती है, वह पहले आत्मा के भीतर ही जन्म लेती है। टकी के पानी की ही अशुद्धि नलो में आती है। इस कारण भोजन से पूर्व भावना शुद्धि का विशेष प्रयोजन है। इस ससार में जितने ये सारे पदार्थ हैं—ये

मूलत: आत्म-शक्ति के द्वारा ही बने हैं। फिर उन्ही पदार्थों के लिये आपस में झगडे किये जाय यह कैसी बात है ? पदार्थों के लिये होने वाले झगडो के कारण ही आत्माओ की भाव-धारा मलिन होती है। ऐसी मलिन भाव-धारा चल रही हो और उस समय भोजन किया जाता है तो वह भोजन सम्यक् प्रभावी नही बनता। चित्त वृत्तियो की शुद्धि एवं शान्तता के साथ ही एक साधक भोजन ग्रहण करता है वह भी अपनी साधना की आवश्यकता के अनुसार। वह इस बात का विवेक भी रखता है कि सामने परोसे गये उस भोजन मे से कितना उसे ग्रहण करना है और किन-किन चीजो की छटनी कर लेनी है। क्योकि उसका लक्ष्य साधना है–भोजन को तो वह उस साधना का साधन ही समझता है।

भोजन के समय एक ओर ऐसा विवेक हो तो दूसरी ओर शुभ भावना भी हो कि इस समय कोई सर्वस्व त्यागी सत–महात्मा पहुच जाय तो उन्हे दान देकर अपनी चित्तवृत्तियो को पवित्र बनाऊं। उस प्रकार यदि उसके उस आवश्यक भोजन में से भी कमी हो जाती है तो उसको सहज भाव से ऊनोदरी तप हो जाता है। यह ऊनोदरी तप श्रुत एव चारित्र रूप धर्म के अन्तर्गत आता है। इसके साथ ही उस तपाराधन करने वाले की ऐसी शुद्ध भावना होती है कि भोजन पर से ममत्व भाव कम हुआ वह मेरे लिये श्रेयकारी है तथा महात्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र की अभिवृद्धि में मेरा यत्किंचित् योग एवं अनुमोदन बना उससे भी हितकारी धर्म की आराधना ही हुई है। यदि स्वयं आवश्यक योग साधना नही कर पाता है, किन्तु परिपूर्ण योग्य साधक का अनुमोदन करता है तो उससे भी पुण्य कर्म का बध होता है। यह सोचने की बात है कि किस प्रकार भोजन करते हुए भी धर्माराधना हो जाती है तथा पुण्य कर्म का अर्जन कर लिया जाता है। इस रूप में भावोच्चता के कारण वह भोजन आत्मशुद्धि का हेतु भी बन जाता है। कभी–कभी यही भावधारा इतनी उच्च श्रेणियो में प्रवाहित होने लगती है कि उस भव्य आत्मा के लिये ऊचा विकास भी अल्पावधि मे साध्य बन जाता है। अत खाने की स्थिति का मुख्य सम्बन्ध भावना की स्थिति से रहता है।

नवकार मंत्र का जाप करके उसका अर्थ चिन्तन करते हुए यदि भोजन का नुवाला मुंह मे रखा जाता है तो यही भावना चलती है कि मुझे मेरी साधना की अनुकूलता को समझते हुए वैसा ही और उतना ही भोजन करना है—इतना सा भी अधिक नही कि उससे तनिक भी प्रमाद पैदा हो और विकारो की उत्पत्ति का अवसर आवे। एक बात और भी है कि अगर ऐसे शुभ भावो के साथ भोजन किया जाता है तो उसका सात्विक स्वाद भी निराला ही होता है। ऐसे साधक को भोजन में आसक्ति नही होगी, बाह्य स्वाद की लालसा भी नही हो लेकिन फिर भी जो सात्विक स्वाद वह ज्ञानपूर्वक प्राप्त करेगा व विशिष्ट होगा। भोजन मे इस प्रकार की समतामय परिणति से पुण्य कर्मों का बध ही नही, कर्मों की निर्जरा भी हो सकती है।

भोजन के साथ भावशुद्धि की यह क्रिया कठिन अवश्य है किंतु है बडी ही आनन्ददायक। तिवरी ग्राम के निवासी पीरदानजी बोथरा ने व्याख्यान श्रवण करके यह प्रतिज्ञा ली कि मैं अपने भोजन के लिये अपने हाथो से खाना नही लू गा। परिवार के सदस्य जो भी मुझे परोस देंगे वही मैं समभाव के साथ खा लू गा। अधिक होगा तो उसे निकाल दू गा लेकिन कम होगा तो और नही मागू गा। एक दिन की बात है कि उनकी पत्नी पानी लाने के लिये दो तीन मील दूर गई थी और घर मे माताजी ही थे जो अंधे थे। उनकी पत्नी जाते हुए अपनी सासूजी से कह गई थी कि बाजरी का खीच ढका हुआ रखा है सो वे आवे तब परोस दे। पीरदानजी अपनी दुकान का काम निपटा कर भोजन के लिये घर पर आये। माताजी अधे थे सो टटोलते-टटोलते वे चूल्हे के पास पहुचे और बजाय खीच की हडिया में चम्मच डालने के वे चम्मच को दूसरी हडिया मैं डाल बैठे और थाली में तीन-चार चम्मच परोस दिया। पीरदानजी देख रहे थे किन्तु वे अपनी प्रतिज्ञा पर अटल थे। जो परोसा गया उसे ही उन्होने समभाव से खा लिया। फिर वे वापिस दुकान पर चले गये। माताजी ने थाली माजकर रख दी। जब उनकी पत्नी वापिस लौटी और उसने खीच की हडिया वैसी ही भरी हुई देखी तो पूछ लिया कि क्या अभी तक वे भोजन करने के लिये नही आये ? माताजी ने सहज भाव से उत्तर दिया कि मैंने ही तीन-चार चम्मच परोसा था और वह भोजन करके चला गया है।

तब उनकी पत्नी समझी कि माताजी ने दूसरी हडिया से परोस दिया जिसमें गाय के लिये बांटा पकाया गया था। माताजी को अपने भूल का पता चला तो वे बहुत दु:खी हुई किन्तु पीरदानजी जब वापिस आये और उन्हे दु खी देखा तो बोले—माताजी, मैं देख रहा था कि आपने बांटा परोसा है फिर भी मुझे अपनी प्रतिज्ञा का ध्यान था, अत: समभाव के साथ वह बांटा भी मुझे बड़ा स्वादिष्ट लगा। लौकिकता में भी कहा जाता है कि—

भोजन तो मीठा नही, मीठी होती भूख।
भूख न हो तो दीखती, भोजन में ही चूक॥

कहने का अभिप्राय यह है कि भोजन मे विशेपता नही होती किन्तु जब भावों की समता उसके साथ जुड जाती है तब भोजन चाहे जैसा भी हो उसका सात्विक स्वाद निराला ही बन जाता है। ऐसी भाव समता अपनी उत्कृष्ट स्थिति में कठोर तप से भी अधिक फल-दायक सिद्ध हो जाती है।

भोजन की सर्वश्रेष्ठ विधि

भाव-समता के साथ भोजन करना ही भोजन की सर्वश्रेष्ठ विधि है। जो भी खाया जा रहा है निरपेक्ष भाव से खाया जा रहा है, क्योकि उस खाने में भोजन की अपेक्षा नही होती है बल्कि मात्र साधना की अपेक्षा होती है। इस कारण जो भी खाया जा रहा है, वह विवेक के साथ मित और आवश्यक खाया जा रहा है। उस भोजन की प्राप्ति भी शुद्धता के साथ होती है तो भोजन के समय की भाव-धारा शुद्ध बनी रहती है। फिर भाव समता ऐसी कि भोजन का स्वाद अपना स्वाद नही रहता बल्कि उस भावधारा का आतरिक आनन्द उसमें मिल जाता है। क्या ऐसे भोजन की कोई तुलना हो सकती है? ऐसा श्रेष्ठ भोजन भोज्य पदार्थों से तैयार नही होता अपितु भाव-समता की सर्वश्रेष्ठ विधि अपना लेने से उसका अनुभव होता है। वस्तुत. यह मन की तदनुरूप साधना का विषय होता है जो बाह्य अनुभव को आन्तरिकता में ढाल कर उसके स्वरूप को ही परिवर्तित कर देता है। अत चिन्तन करिये कि अपने मन की भी ऐसी साधना किस प्रकार की जा सकती है ?

सोचिये कि आपके भोजन के किसी पदार्थ में नमक की कमी हो तो कई भाई ऐसे भी सुनने में आते हैं कि उस बेस्वाद के कारण गुस्से से वे थाली ही फेंक देते हैं। जरा सी सोचने की बात है कि किसी में नमक कम हो गया तो क्या हो गया ? समझिये कि उस भाई को रक्तचाप का रोग हो जाता है और डॉक्टर उसका नमक बंद कर देते हैं तब उसे बिना नमक की सब्जी-रोटी खानी पड़ती है या कि नही ? लेकिन वह बिना नमक की जो सब्जी रोटी खानी पडती है वह भाव-समता के फल स्वरूप नही विवशता से खानी पडती है अत' उसमें कर्मों की निर्जरा का प्रश्न नही रहता। लेकिन सामान्य रूप से किसी दाल सब्जी में नमक कम है और वह आप समभाव से खा लेते हैं तो उसमें भाव-समता की स्थिति रहती है।

समभाव से भोजन करने वाला कर्मों की निर्जरा भी करता है तो पुण्य भी कमाता है। इसके साथ ही वह अपनी मन शुद्धि तथा आत्म शुद्धि भी करता है। इस कारण भाव समता के साथ भोजन करने की विधि पर आप गम्भीरता से चिन्तन करें तथा धीरे-धीरे ही सही अपना अभ्यास बनावे कि भोजन सदा ही भाव समता के साथ किया जाय।

दि. ६-८-१९८६



पर्व आत्मा का

श्री श्रेयांस जिन अन्तर्यामी ....

वीतराग परमात्मा के परम पावन स्वरूप को समक्ष रखना, उसका दर्शन करना तथा उस आलोक को आत्मसात् करते रहना-यही आत्मा का पर्व माना जाना चाहिये । पर्व का अर्थ होता है विशेष दिन और विशेष दिन के आयोजन का अभिप्राय यही होता है कि आत्म-विकास हेतु विशेष उत्साह, उमग और कर्म सामर्थ्य जागृत बनाया जाय । जो आत्माए नित प्रति उस परम पावन स्वरूप-चिन्तन मे तल्लीन रहती हैं यो समझिये कि उन आत्माओ के लिये प्रतिदिन पर्व रूप ही होता है । पर्व का विशेष महत्त्व उन सुशुप्त आत्माओ के लिये हैं जो पर्व के नाम से ही सही-जागृति के क्षणो को प्राप्त करे । अत सामान्य रूप मे पर्वों का आयोजन लाभप्रद होता है कि अविकसित अथवा अल्प विकसित किन्तु विकास की अभिलाषा रखने वाली आत्माए परमात्म स्वरूप को देखें, अपने स्वरूप को पहिचानें तथा स्व-पर कल्याण के कार्यों में प्रवृत्ति करें ।

विकास की अभिलाषा तो सुदृढ हो, लेकिन विकास-पथ का ज्ञान नही हो तो विकास यात्रा का शुभारम्भ ही सम्भव नही हो सकता

है । इस दृष्टि से ज्ञान का जो दिव्य आलोक वीतराग देवों की देशनाओं से प्राप्त होता है, वह विकास-पथ को आलोकित करने के लिये अति पर्याप्त है । उन देशनाओं के अर्थ-गांभीर्य्य को पूरी तरह समझ पाना एक भगीरथ कार्य है किन्तु चतुर्विध सघ का कर्त्तव्य बनता है कि यथाशक्ति उस दिव्य सदेश को विश्लेषित किया जाय तथा उन कल्याणकारी तत्त्वों को अपने विचार एव आचार के माध्यमों से क्रियान्वित बनाया जाय ।

पर्व सम्बन्धी सन्देश

तीर्थङ्कर देवों का जो मंगलमय भावों से भरा हुआ उपदेश अभिव्यक्त हुआ है, उन भावों में पर्व सम्बन्धी सन्देश और मार्गदर्शन भी मिलता है । ग्यारह अंग सर्वमान्यता के रूप में सकल श्वेताम्बर जैन समाज की एक थाती है । समवायाग सूत्र में संवत्सरी महापर्व के सम्बन्ध में महावीर प्रभु का निर्देश मिलता है । चौमासी पक्खी से लेकर एक महीना और बीस रात्रि व्यतीत होने पर सवत्सरी पर्व का प्रसंग उपस्थित किया जाना चाहिये । इस सन्देश को गणधरों तथा पश्चात्वर्ती आचार्यों ने अपने जीवन कल्याण की अपेक्षा से ग्रहण किया। उसी जिज्ञासा के साथ वर्तमान में भी भव्य जन साधना में तल्लीन हैं।

संवत्सरी पर्व आलौकिक पर्व है । इसका मर्म लौकिक पर्वों से भिन्न माना जाना चाहिये । लौकिक पर्व तो मुख्यत. सांसारिक प्रयोजनो से सम्वन्धित होते हैं जिनको मनाते हुए ससारी आत्माएं सत्शिक्षा रूप में अपनी चित्तवृत्तियों का संशोधन भी कर सकती है तो उत्सव के रूप मे पांच इन्द्रियों के विषयों की पूर्ति भी कर सकती है । संवत्सरी पर्व का प्रयोजन तथा आयोजन का लक्ष्य इनसे भिन्न होता है और उसी अलौकिक सक्ष्य को इस पर्व को मनाते समय चतुर्विध सघ को अपने सम्मुख रखना चाहिये । यह लोकोत्तर पर्व हैं ।

इस लोकोत्तर पर्व को मनाने के लिये आत्म-धरातल की शुद्धि की जानी चाहिये । इसमें पांचो इन्द्रियो के विषयो की वासना का ही परित्याग होना चाहिये । इस पर्व में आत्मशुद्धि की पृष्ठभूमि मे आत्म चिन्तन और आत्मालोचना का क्रम चलना चाहिये । यह पूरे सवत्सर

वर्ष का पर्व होता है अतः पीछे मुड़कर देखना चाहिये कि पूरे वर्ष में चित्तवृत्तिया किस रूप मे विश्रृखलित तथा विकार ग्रस्त होती रही हैं और अब प्रायश्चित तथा पश्चात्ताप की विधि से उस विद्रूप का परिमार्जन कैसे किया जाय । सहजिक योग के माध्यम से अपने अन्त.करण की सम्पूर्ण कालिमा को धोकर मानस पटल को उज्ज्वल बनाने का यह अपूर्व पर्व होता है । अन्तर्पटल की उज्ज्वलता से स्वय उस आत्मा का ही जीवन निर्माण नही होता, बल्कि उस उज्ज्वलता का सुप्रभाव पूरे मानव समाज पर भी पडता है तथा समस्त वातावरण मे पवित्रता की एक नवीनता प्रसारित होती है । यह नवीनता आत्मीय एकरूपता में प्रतिबिंबित होती है ।

आत्मीय समता का पर्व

सवत्सरी महापर्व का अपूर्व सन्देश यही है कि सभी आत्माए समान हैं अत कोई भी किसी अन्य के हृदय को किसी भी प्रकार से क्लेशित न करे तथा प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप मे कभी किसी के हृदय को तनिक भी क्लेश पहुचाया हो तो उसके लिये उस दिन अन्तर्मन से क्षमायाचना करें और सकल्प लें कि भविष्य मे वह किसी को कभी कोई दु ख नही पहुचायेगा तथा सभी के लिये सभी प्रकार से सुख पहुचाने का प्रयास करेगा ।

कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को क्लेश, कष्ट या दु ख क्यो पहुचाता है ? क्योकि उसकी चित्तवृत्तिया दूषित और मलिन बनी रहती हैं तथा इस दोष और मलिनता का मुख्य कारण होता है पदार्थ मोह । जब कोई अज्ञानवश सभी आत्माओ को आत्मवत् नही मानता तो अपने ही स्वार्थों को सबसे अधिक महत्त्व देने लगता है । अक्सर करके यह महत्त्व इतना जटिल बन जाता है कि स्वार्थन्धता पैदा हो जाती है । इसी अंधेपन में मानव विषय-कषाय के घेरो में बधता है तो मानवीय मूल्यो को भी भुला बैठता है । इस सकीर्णता के कारण वह 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' के शखनाद को भी अनसुना कर देता है । सवत्सरी का पर्व इसी शखनाद को आपको सुनाना चाहता है तथा इसके आयोजन से अपेक्षा की जाती है कि आप सहृदय, सद्भावी और सहयोगी बनें जिसका मार्ग है क्षमाशीलता-अपनी भूलो के लिये उन्हे उदा-

रतापूर्वक क्षमा करदे । यही प्रक्रिया होती है आत्मीयता को जगाने की; फलाने को और उसे स्थायी स्वरूप प्रदान करने की ।

इस महापर्व के माध्यम से यह अपेक्षा रखी जाती है कि किसी की भी चित्त वृत्ति मे जरा सा भी कलुष न रहे । कलुषित चित्तवृत्तियां मुह के द्वार से ही बाहर प्रकट होकर सक्रामक रोग की तरह फैलती है, इसी हेतु से वाणी शुद्धि का भी निर्देश किया गया है । क्षमायाचना इसी वाणी शुद्धि का प्रयोग है । मन, वाणी तथा कर्म के त्रिकोण को पावन बनाना यह इस पर्व का प्रधान लक्ष्य है । इसी कारण यह आत्मा का पर्व है—आध्यात्मिक पर्व है ।

आत्मीय समानता का सन्देश ही एकता की दिशा का निर्देश करता है । सभी आत्माओ को समान मानें, शुद्ध चेतना का दृष्टिकोण रखे तथा मन, वाणी एव कर्म को सर्व हितकारी स्वरूप प्रदान करदें तो उससे एकता की पुष्टि होगी । इस पर्व की आराधना एकत्त्व भावना के साथ होनी चाहिये । यह पर्व समग्र मानव जाति की एकता का ही प्रतीक नही, अपितु समग्र विश्व के सभी प्राणियो की एकता को समन्वित कर लेने वाला महापर्व है ।

सबके लिये हितकारी-सुखकारी बनें

भगवान् महावीर का यह सदेश—"सव्व भूयस्स भूयस्स सव्व भूयामि पासओ पिट्टीआसवस्स दतस्स पावग न बघई" अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । जीवन की प्रयोगशाला में इस सन्देश का अनुपालन हितकारी और सुखकारी सिद्ध हुआ है । सबका विचार और आचरण इस प्रकार सशोधित बने एव नवीन रूप में ढले कि सबके लिये हितकारी एव सुखकारी बनें ।

सवत्सरी पर्व को महापर्व की सज्ञा इसी दृष्टि से मिली है कि इसे सारा ससार मनावे—यह कोई सकीर्ण पर्व नही है–सबका पर्व है । कारण, यह सबके लिये है इसलिये सबके द्वारा ही मनाया जाना चाहिये । इसमे किसी जाति, क्षेत्र, वर्ग या व्यक्ति विशेष का प्रसंग नही है । इस पर्वायोजन के प्रसग में कदाचित् पशुवर्ग को गौण करलें

तो मानव-वर्ग का तो इस पर्व से सीधा सम्बन्ध जुडा हुआ प्रतीत होता है।

वीतराग देव की दिव्य दृष्टि व्यापक और विशाल होती है। उसी सदर्भ में सभी भव्य जनों तथा चतुर्विध सघ का कर्त्तव्य बनता है कि वे इस पर्व के आयोजन को किसी सकीर्ण परिधि से घिरा हुआ न रखें, वल्कि अपने हृदय की उदारता को विस्तृत रूप देकर इसे संपूर्ण मानव जाति का पर्व बनाने की चेष्टा करें। यह पर्व वीतराग के अनुयायियो का ही नही, समग्र मानव जाति की आंतरिक शुद्धि एव हार्दिक एकता का पर्व बने—ऐसा शुभ प्रयास किया जाना चाहिए।

सवत्सरी सर्व सम्मत हो

संवत्सरी पर्व आत्मा का अर्थात् आत्मशुद्धि का पर्व है। जव हम अभिलाषा रखते हैं कि यह पर्व सम्पूर्ण मानव जाति का पर्व बने तो उसमें निश्चय ही यह अभिलाषा तो है ही कि इसका आयोजन सम्पूर्ण जैन समाज मिलकर एकरूप में करे तथा वह सर्वसम्मत हो। भला आत्मशुद्धि के आयोजन में भी अनेकता और विभेद क्यो ?

सवत्सरी पर्व का आयोजन सर्व सम्मत हो-इस हेतु क्या प्रयास किये जा रहे हैं—उसका सक्षिप्त विवरण मैं आपको दे दूं। भारत जैन महामण्डल के कार्यकर्त्ताओ तथा जैन एकता समन्वय समिति का एक शिष्टमंडल सवत्सरी पर्व की एकता के उद्देश्य को लेकर यहां उपस्थित हुआ है। उसने अपने विचार मेरे समक्ष रखे हैं। सवत्सरी पर्व की एकता के सभी इच्छुक हैं। इसमे मुझे जो कुछ सशोधन देना था, वह मैं व्यक्त कर चुका हूं।

अनादिकाल से भादवा सुदी पंचमी को ही यह पर्व मनाया जाता रहा है—यह बात यदि शास्त्र के नाम से कही जाती है तो मैं उससे सहमत नही हूं। प्रारूप में उल्लिखित कई अन्य बातें भी विचारणीय है। किन्तु अभी मैं उसकी चर्चा में इसलिये नहीं जा रहा हूं क्योकि प्रारूप में लिखी वातो की अपेक्षा सवत्सरी की एकता का उद्देश्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। अभी तर्क-वितर्क में उलझने की अपेक्षा

लक्ष्यगत प्रगति को मैं आवश्यक समझता हूं। वैसे मैं इस विषय मे श्रमण भगवान् महावीर प्रभु की २५००वी निर्वाण शताब्दि के प्रसग से अपना दृष्टिकोण अभिव्यक्त कर चुका हूं।

निर्वाण शताब्दि के प्रसंग पर श्री सम्पतकुमार जी गादिया ने पूछा था कि आपका क्या कार्यक्रम है? तब मैंने उन्हे कहा था कि हम तो सन्त हैं और सन्त तो प्रभु महावीर के शासन में सदा के लिये समर्पित होते हैं, अत. हमारे लिये नया कोई कार्यक्रम नही है। तब उन्होने पूछा कि हमारे लिये क्या मार्गदर्शन है? इस पर मेरा उत्तर था कि यदि आप लोग सवत्सरी पर्व के आयोजन की एकता की दिशा में कुछ प्रयास करें और वह समग्र जैन समाज का एक दिन हो सके तो वह सबसे बड़ी उपलब्धि होगी।

तब से मैं भी इस दिशा में निरन्तर प्रयत्नशील रहा हूं और जब भोपालगढ़ मे आचार्य श्री हस्तिमलजी म सा से मिलन का प्रसग आया तब साध्वाचार सहिता आदि विषयो पर गम्भीर विचार-विमर्श भी हुआ। उसी मिलन के अवसर पर सवत्सरी एकता के विषय में निष्कर्ष रूप दोनों की सयुक्त अभिव्यक्ति समाज के सामने प्रस्तुत हो चुकी है। समग्र जैन समाज की अथवा श्वेताम्बर जैन समाज की सांवत्सरिक एकता बनाने का अवसर आवे तो हमारी पूर्ण तैयारी है। मैं यह एकता बहुमत से नही, बल्कि सर्वसम्मति से चाहता हूं कि जैन समाज का एक भी बच्चा उससे वचित न रहे। इस विषय में लौकिक राजनीति या कूटनीति का प्रवेश न हो। वैसी दशा में कई प्रकार के प्रयोजन सक्रिय हो जाते हैं। किन्तु आध्यात्मिक विषय की एकता में अन्तःकरण की शुद्धि अनिवार्य होती है। अत. ऐसा निर्णय सर्वसम्मत ही होना चाहिये।

सर्वसम्मत एकता के प्रयास

सवत्सरी महापर्व के आयोजन मे सर्वसम्मत एकता की लक्ष्य पूर्ति के लिये सर्वांगीण चिन्तन होना अपेक्षित है। ऐसे कार्यों में विलम्ब भले ही हो, किन्तु विचार साम्यता और कार्य स्थायित्व की भूमिका पर जो सर्वसम्मति प्राप्त होगी वह दीर्घजीवी रहेगी।

इस दृष्टि से सर्वसम्मत एकता के लिये ही प्रयास किये जाने चाहिये। पूर्व में भाऊ साहब श्री कुन्दनमल जी फिरोदिया, चिमनलाल चकूभाई शाह आदि ने अनेक बार प्रयास किये और साथ ही मूर्धन्य श्रमण वर्ग का भी प्रयत्न रहा। उनके सद्प्रयास से ही श्री वर्धमान स्था जैन श्रमण सघ की स्थापना हुई। एक आचार्य के नेतृत्व में शिक्षा दीक्षा, चातुर्मास, विहार, प्रायश्चित आदि के दूरगामी उद्देश्यपूर्ण सिद्धात निर्धारित हुए और आचार सहिता आदि के सभी निर्णयो मे प्रायः सर्वानुमति ही रही। बाद में कुछ ऐसी स्थितिया बनी जिनसे मतभेद उत्पन्न हुए। सोचा गया था कि वे बातें छोटी और नगण्य हैं, भविष्य मे उन्हे ठीक कर लेगे, किन्तु उनका जो परिणाम रहा, वह सबके सामने हैं। एक छोटा-सा छिद्र भी बडी नौका को डुबो सकता है।

प्रबुद्ध कार्यकर्त्ता को सोचना चाहिये कि जहा लौकिक विधि विधानो मे भी बहुमत होने के बावजूद अल्पमत का सक्रामक रोग किस कदर पीछे पीछे फैलता है—उसके क्या कुछ मनोवैज्ञानिक परिणाम निकलते हैं, यह सब आपसे छिपा हुआ नही है। इसी तरह यदि आध्यात्मिक क्षेत्र मे अल्पमत की भी उपेक्षा की गई–उनके विचारो को अनदेखा किया गया तो बहुमत के प्रयास भी बिना प्रश्नवाचक चिह्नो के लगे नही रहेगे। क्या ऐसी स्थिति से सावत्सरिक सफलता सदिग्ध नही बन जायगी ? मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अल्पमत के चिन्तन का क्या कुछ प्रयास हो सकता है, वह भी विचारणीय है। एक सार्वजनिक अवकाश के सम्बन्ध मे भी सोच लेना चाहिये। अत सभी तरह के प्रश्नो पर विज्ञ जनो को गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेना चाहिये।

जब मैं इस विषय को लेकर आध्यात्मिक चिन्तन करता हू तो मुझे लगता है कि ये बहुमत की बातें राजनीति मे होती हैं, जिन्हे समस्याओ का बुनियादी हल नही माना जा सकता है। इस प्रकार के निर्णयो का क्या कुछ परिणाम निकलता है–इसका आये दिन आप अनुभव करते रहते हैं।

आदर्शों का यथार्थ दृष्टिकोण

मेरा सदा ही यह प्रयास रहता है कि मैं यथार्थवाद पर आधारित अपने सही दृष्टिकोण को प्रस्तुत कर दू जिसे कटु सत्य भी

कहा जा सकता है । कोई कुछ भी कहे, मुझे अपनी आत्म-साक्षी से ही चलना पसंद है । मैं जितना कहता हू उससे भी अधिक करने पर विश्वास रखता हूं । कहना कम और करना अधिक—ऐसा मेरा विचार रहता है । इस सवत्सरी पर्व के प्रसग को लेकर जो आत्मजागरण हुआ है, वह तात्कालिक भावावेश नही होना चाहिये । इसके मूल में रही हुई सभी स्थितिया पहले पूर्ण रूप से परिमार्जित हो जानी चाहिये । यदि कुछ भी बाकी रह गया तो सभव है कि अल्पमत-बहुमत का सघर्ष कभी भी सारी रचना को जीर्ण-शीर्ण करदे अथवा यो कहू कि संशोधित चित्तवृत्तियो को भी वह आहत बना दे । ऐसा न हो कि सारी स्थिति घपले और गड़बड झाले में उलझ जाय । आप जानते हैं कि कैंसर, टी.बी आदि सक्रामक रोगो की चिकित्सा में पहले कीटाणुओं के मूल को नष्ट किया जाता है । उसके बिना चिकित्सा की सफलता नही मानी जाती है । साथ ही डॉक्टर यह भी चाहता है कि लिखा गया दवाओ का सारा कोर्स रोगी ध्यानपूर्वक ग्रहण करे । यदि रोगी दी गई दवाओं के लेने आदि में कृपणता करे या असावधानी रखे तो उसे डाक्टर पसन्द नही करता है । वह कहता है कि ऐसा करने से रोग फिर से रोगी पर आक्रमण कर सकता है और उसे घेर सकता है।

इसी प्रकार सावत्सरिक एकता का निदान थोड़े से अपूर्ण प्रयास द्वारा ही कर लिया गया तो सम्भव है कि मतभेद का रोग फिर से उभर जावे । इसलिये रोग निवारण की प्रक्रिया मूलत होनी चाहिये । ऐसा करने से सर्वसम्मत निर्णय का मतभेद का रोग फिर से नही घेर सकेगा । यह सवत्सरी पर्व तो अनेकतापूर्ण विभेदो के सक्रामक रोग से मुक्त होने का पवित्र पर्व है, फिर इसकी ही आराधना में सर्व सम्मत समरसता पैदा नही की जा सके तो वह प्रयास शोभास्पद नहीं बन पाएगा ।

आप ऐसी अटूट एकता कीजिये कि आदर्शो का यथार्थ दृष्टिकोण निर्मित हो जाय । इससे सवत्सरी पर्व की आराधना में जैनसमाज का बच्चा-बच्चा उत्साह पूर्वक सम्मिलित हो सकेगा । एक-एक बच्चे को भी सच्चे अन्त करण से क्षमायाचना का अवसर मिल सकेगा । समस्त वैर विरोध शात हो यह इस पर्व की आराधना करने का मुख्य ध्येय है । यदि समाज का एक बच्चा भी हमारे कार्यव्यवहार से असतुष्ट

अथवा तनावग्रस्त होता है और उसे हम एक सवत्सरी का क्षमायाचना का स्वर्णिम अवसर भी न दे सके तो समझें कि सांवत्सरिक एकता का उद्देश्य पूर्ण नही हुआ है। उस अपूर्णता को दूर करने के लिये निरन्तर प्रयास चलता रहना चाहिये।

सन्त जीवन 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की पुनीत भावना को लेकर चलता है और मैं भी उसी भावना को लेकर चल रहा हूं। सांवत्सरिक एकता-प्रयासो के सम्बन्ध में मैंने अपने विचार आप लोगों के सामने पूरी स्पष्टता से विस्तार के साथ प्रस्तुत कर दिये हैं। इसमें कोई सुज्ञानी सशोधन हो तो में उस पर भी चिन्तन करने को तत्पर हूं।

संवत्सरी एक आध्यात्मिक पर्व

सवत्सरी एक आध्यात्मिक पर्व है जिसका प्रमुख ध्येय ही आत्मा की ओर अभिमुख होना है। जो सतत जागृत रहते हुए आत्मा की ओर अभिमुख नही है, उन्हें जागृति का दिशा बोध कराने के लिये किन्ही पर्वों की अपेक्षा रहती है। इस दृष्टि से शास्त्रो में अमावस्या, पूर्णिमा अथवा इनसे सयुक्त पक्ष को भी पर्व कहा गया है। इसके सिवाय द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी को भी पर्व कहा गया है और इस कथन के पीछे आध्यात्मिक दृष्टि ही रही हुई है। यो तो एक सजग आध्यात्मिक साधक के लिये प्रतिदिन और प्रतिदिन का प्रतिपल पर्व रूप ही होता है। उसे किसी विशिष्ट पर्व की अपेक्षा नही रहती है। किन्तु जागृति जिनकी शेष है, उन्हे पर्वों के शुभ माध्यम से अपनी जागृति को सम्पन्न बना लेने का उत्साहकारी अवसर मिलता है। इसी रूप मे सवत्सरी पर्व पूरे वर्ष भर का पर्व है कि कम से कम वर्ष मे एक दिन तो यह आत्मा आध्यात्मिकता के क्षेत्र मे विचरण करने का अभ्यास बनावे और अपने मूल स्वरूप का चिन्तन एवं मनन करे।

सवत्सरी को इसी कारण आत्मा का पर्व कहा गया है। आत्मा सिद्धात्माओ के आदर्श को समक्ष रखकर अपने मूल स्वरूप का भी चिन्तन करे तो उस चिन्तन के प्रकाश में अपने वर्तमान स्वरूप की भी जाच-परख करे। इस तुलना में आत्मा को अपना विकृत स्वरूप

भी दिखाई देगा तो उसको संशोधित करने का उत्साह भी जागृत होगा। ज्ञानियो ने स्वरूप चिन्तन की दृष्टि से आत्मा के प्रकारान्तर से तीन भेद किये हैं—(१) बहिरात्मा–जिस आत्मा को सम्यक् ज्ञान के न होने से मोहवश शरीर आदि बाह्य पदार्थों में आत्म बुद्धि हो कि यह मैं ही हू और मैं इनसे भिन्न नही हू, वह बहिरात्मा है। बाह्य पदार्थों में ही अधिकतर ऐसी आत्मा भटकती रहती है। यह चेतन को जड के साथ जोडने वाला आत्म-स्वरूप होता है। (२) अन्तरात्मा–जो आत्मा जड पदार्थों को अलग करके इस शरीर से भी भिन्न अपने शुद्ध ज्ञान स्वरूप को देखती है और उस स्वरूप में ही अपने स्वरूप का निश्चय मानती हो, वह आत्मा अन्तरात्मा हो जाती है। वह आत्म-ज्ञान से सम्पन्न बन जाती है और अपने ज्ञान-लक्षण को भलीभाति पहिचान कर उसका विकास करती है। (३) परमात्मा—ऐसी अन्तरात्मा जब सकल कर्मों का नाश करके शुद्ध ज्ञान स्वरूप को प्राप्त कर लेती है और जो वीत-राग व कृतकृत्य बन जाती है, वह शुद्धात्मा परमात्मा हो जाती है। यह आत्मस्वरूप का विश्लेषण पर्वाराधना की दृष्टि से इस प्रकार हृदयगम किया जाना चाहिये कि आत्मा की आंतरिकता मे आत्मभाव का स्फुरण हो, आत्म–चेतना की जागृति हो तथा आत्मा अपने ज्ञान स्वरूप को प्राप्त करने की दिशा में अग्रगामी बने।

पर्व की आराधना कैसे करें ?

यह प्रमुख रूप से ज्ञातव्य है कि इस आध्यात्मिक पर्व की आराधना किस प्रकार की जाय ? वीतराग देवो के उपदेश में 'आरा–धना' क्रिया की ही इतनी स्पष्ट व्याख्या है कि उसमे 'किस प्रकार' को सोचने की जरूरत नही रहती है। आराधना शब्द स्वय स्पष्ट है। आराधना की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि किसी भी प्रकार का अतिचार न लगाते हुए शुद्ध आचार का पालन कर-[illegible] आराधना है। शुद्ध आचार के सन्दर्भ मे ही आराधना के ती[illegible] भेद किये हैं—(१) ज्ञानाराधना–ज्ञान के काल, विनय, बहुमा[illegible] आदि आठ आचारो का निर्दोष रीति से पालन किया जाय। (२) दर्शनाराधना–शका, कांक्षा आदि सम्यक्त्व के अतिचारों को न लगाते हुए नि शकित आदि सम्यक्त्व के आचारो का शुद्धतापूर्वक पालन किया जाय। (३) चारित्राराधना–सामायिक आदि चारित्र में अतिचार न लगाते हुए निर्मलतापूर्वक उसका पालन किया जाय। इस सकारात्मक

पहलू के साथ इसका नकारात्मक पहलू भी समझ लिया जाना चाहिये जिसे विराधना शब्द से उल्लिखित किया गया है। ज्ञान आदि का सम्यक् रीति से आराधना न करना, उनका खडन करना तथा उनमें दोष लगाना विराधना है।

अतः संवत्सरी महापर्व की सभी ज्ञानवान् आत्माओ को आराधना करनी चाहिये और विराधना नही करनी चाहिये।

क्या ही अच्छा हो कि पूरी उमग और आत्मविकास की अभिलाषा के साथ सभी आत्माए जागृत हो तथा सवत्सरी महापर्व की एकता के साथ आराधना करें। जैन सस्कृति के प्रति इन दिनो द्रौपदी चीरहरण जैसी दशा हो रही है, उसे रोकने और सस्कृति को समुन्नत बनाने की आवश्यकता है। हमारी सीमा के कार्य हम श्रमण जन करे और आप श्रावकजन अपने सामर्थ्य के कार्य करते हुए इस महान् सस्कृति को सुरक्षित बनावे। यह पावन कार्य शुद्ध अन्त करण के साथ पर्वाराधन करने से सुगम हो सकेगा क्योकि उसके कारण चित्तवृत्तियां सशोधित होकर निर्मल स्वरूप ग्रहण करने लगेगी।

दि ७-८-१९८६

